

समरथ



मार्च-अप्रैल 2012 ♦ नई दिल्ली



नाहि तो जन्म नसाई

पिछले दो वर्षों से अनेक महान कवियों की जन्मशती मनाई जा रही है। यानी एक ऐसे दौर के कवियों की जन्मशती जिन्होंने आज़ादी के पूर्व और आज़ादी के बाद के उपमहाद्वीप की तस्वीर देखी और अपनी-अपनी दृष्टि से उस तस्वीर को कविता का पैरहन पहनाया। ये ऐसी पीढ़ी थी जिसने कविता और ज़िंदगी का रिश्ता इस प्रकार जोड़ा कि कविता मात्र सौंदर्यबोध न रहकर ज़िंदगी का आइना बन गई। हमने फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की जन्मशती मनाई। फ़ैज़ जो इस उपमहाद्वीप के उन महान कवियों में गिने जाते हैं जिन्होंने आज़ादी की लड़ाई भी देखी और अपने मुल्क पाकिस्तान (1947 के बाद) का ताना-बाना बिखरते भी देखा। वहीं भवानीप्रसाद मिश्र भारत छोड़ो आंदोलन का हिस्सा बने। ये 'गीत फ़रोश' कवि विद्रोह के वो तेवर भी दिखा सकता था कि आपातकाल के दौरान जब

“सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्

चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं;

उनके ख़याल से यह सब गप है

मात्र किंवदन्ती।” (मुक्तिबोध, अंधेरे में) भवानीप्रसाद मिश्र हर दिन आपातकाल के विरोध में तीन कविताएं लिखते रहे। ये वही कवि है जो आधुनिकतावादी आंदोलन की दूसरी कड़ी यानी दूसरा सप्तक का भी हिस्सा था। ये कवि गीत फ़रोश भी था, विद्रोही भी और ज़िंदगी के लिए प्रतिबद्ध भी। प्रस्तुत हैं इनकी दो कविताएं :

गीत-फ़रोश

■ भवानीप्रसाद मिश्र

जी हाँ हुज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ,
मैं किसिम-किसिम के गीत बेचता हूँ

जी, माल देखिए, दाम बताऊँगा,
बेकाम नहीं हैं, काम बताऊँगा,
कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैंने,
कुछ गीत लिखे हैं पस्ती में मैंने,
यह गीत सख्त सर-दर्द भुलाएगा,
यह गीत पिया को पास बुलाएगा!

जी, पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको;
पर बाद-बाद में अक्ल जगी मुझको,
जी लोगों ने तो बेच दिये ईमान,
जी, आप न हों सुन कर ज्यादा हैरान-
मैं सोच-समझकर आखिर
अपने गीत बेचता हूँ
जी हाँ हुज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ
मैं किसिम-किसिम के गीत बेचता हूँ!

यह गीत सुबह का है, गाकर देखें,
यह गीत ग़ज़ब का है, ढाकर देखें,
यह गीत ज़रा सूने में लिक्खा था,
यह गीत वहाँ पूने में लिक्खा था,
यह गीत पहाड़ी पर चढ़ जाता है
यह गीत बढ़ाए से बढ़ जाता है!



यह गीत भूख और प्यास भगाता है,
जी, यह मसान में भूख जगाता है,
यह गीत भुवाली की है हवा हुजूर,
यह गीत तपेदिक की है दवा हुजूर
जी, और गीत भी हैं दिखलाता हूँ,
जी, सुनना चाहें आप तो गाता हूँ।

जी, छंद और बेछंद पसंद करें
जी, अमर गीत और वे जो तुरत मरें!
ना, बुरा मानने की इसमें क्या बात,
मैं ले आता हूँ क़लम और दावात,
इनमें से भायें नहीं, नये लिख दूँ,
जी, नये-पुराने सभी तरह के
गीत बेचता हूँ,
जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ,
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ,
मैं किसिम-किसिम के गीत बेचता हूँ!

जी, गीत जनम का लिखूँ, मरण का लिखूँ,
जी, गीत जीत का लिखूँ, शरण का लिखूँ
यह गीत रेशमी है, यह खादी का,
यह गीत पित्त का है, यह बादी का!
कुछ और डिजाइन भी हैं, यह इल्मी,
यह लीजे चलती चीज़, नयी फिल्मी
यह सोच-सोच कर मर जाने का गीत!
यह दुकान से घर जाने का गीत!
जी नहीं, दिल्लीगी की इसमें क्या बात,
मैं लिखता ही तो रहता हूँ दिन-रात
तो तरह-तरह के बन जाते हैं गीत,
जी, रूठ-रूठकर मन जाते हैं गीत,
जी, बहुत ढेर लग गया, हटाता हूँ,
गाहक की मर्जी, अच्छा जाता हूँ,
या भीतर जा कर पूछ आइए आप,
है गीत बेचना जैसे बिलकुल पाप,
क्या करूँ मगर लाचार
हारकर गीत बेचता हूँ।
जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ।
मैं किसिम किसिम के गीत बेचता हूँ।

संभावित रचनाकाल 1950

कोई उम्मीद बर नहीं आती

“कोई उम्मीद बर नहीं आती
कोई सूरत नज़र नहीं आती”
हिन्दू, टाइम्स या हितवाद
अपने मन की खबर नहीं आती

मन बदलता नहीं अमेरीका
उसकी तबियत इधर नहीं आती
बोलता है हमेशा सच कमबख्त
बात गाँधी को कर नहीं आती

तीन कौड़ी का आदमी है खरे
उसकी-सी बात और कौन करे
घूम-फिरकर जहर उगलता है
हजरते-नून तक शरम से मरे

लौटकर नून सुना आते हैं
देखिए रंग कौन लाते हैं
गाँधी जिन्ना में भेंट से पहिले
मंत्र कोई नया चलाते हैं
देखिए रुकके फिर अमेरी जी
किस घड़ी में इन्हें बुलाते हैं

रंज शास्त्री को बहुत सच्चा है
देस टुकड़े न हो तो अच्छा है
पर मचल ही गया अगर जिन्ना
ये तो कहने से रहे ‘बच्चा’ है

हल निकाले से हल निकलता है
और ‘स्लोगन’ तो चल निकलता है
बात आखिर कहीं शुरू तो हो
फूल आए पे फल निकलता है
ठंडे दिल से न बात कीजे गर
दिल का हर दाग जल निकलता है
दाग सौ-सौ लिए है दिल हर एक
एक शोलों का दल निकलता है
और लगती है आग हर सू में
एक कितना डबल निकलता है

16 अगस्त 1944

साभार : भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली-1

उत्तराखंड का एक गाँव

■ अनुपम मिश्र

ढौंड गाँव के पंचायत भवन में छोटी-छोटी लड़कियां नाच रही थीं। उनके गीत के बोल थे : ठंडे पानी मेरा पहाड़ मां, ना जा स्वामी परदेसा। ये बोल सामने बैठे पूरे गाँव को बरसात की झड़ी में भी बांधे हुए थे। भीगते दर्शकों में ऐसी कई युवा और अर्धे महिलाएं थीं, जिनके पति और बेटे अपने जीवन में कई बसन्त 'परदेस' में ही बिता रहे हैं। ऐसे वृद्ध भी इस कार्यक्रम को देख रहे थे, जिनने अपने जीवन का बड़ा भाग 'परदेस' की सेवा में लगाया था और भीगी दरी पर वे छोटे-बच्चे भी थे, जिन्हें शायद कल परदेस चले जाना है।

एक गीत पहाड़ों के इन गाँवों से लोगों का पलायन भला कैसे रोक पाएगा? लेकिन गीत गाने वाली टुकड़ी गीत गाती जाती है। आज ढौंड गाँव में है तो कल डुलमोट गाँव में। फिर जन्द्रिया में, भरनों में, उफरैखाल में। यह केवल सांस्कृतिक आयोजन नहीं है। इसमें कुछ गायक हैं, नर्तक हैं, एक हारमोनियम, ढोलक है तो सैंकड़ों कुदाल-फावड़े भी हैं जो हर गाँव में कुछ ऐसा काम कर रहे हैं कि वहां बरसकर तेजी से बह जाने वाला पानी वहां कुछ थम सके, तेजी से बह जाने वाली मिट्टी वहीं रुक सके और इन गाँवों में उजड़ गये वन, उजड़ गयी खेती फिर से संवर सके। आधुनिक विकास की नीतियों ने यहां के जीवन की जिस लय को, संगीत को बेसुरा किया है, उसे फिर से सुरीला बनाने वालों की टोली है यह दूधातोली की।

पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड के दूधातोली इलाके के उफरैखाल में आज से कोई 21 बरस पहले बनी यह छोटी-सी टोली आज यहां के कोई 100 गाँवों में फैल गयी है और इस क्षेत्र में अपने काम को खुद करने का वातावरण बना रही है। अपने काम में हैं अपने वन, अपना पानी, अपना चारा, अपना ईंधन और अपना माथा, स्वाभिमान।

इस टोली के विनम्र नायक हैं शिक्षक सच्चिदानन्द भारती। वे उफरैखाल के इंटर कॉलेज में पढ़ाते हैं। सन् 1979 में वे चमोली जिले के गोपेश्वर महाविद्यालय में पढ़ रहे थे। उसी दौर में वहां प्रसिद्ध चिपको आंदोलन ने जन्म लिया था। भारती ने अपनी कॉलेज की पढ़ाई के अलावा उस दौर में एक सजग छात्र के नाते पहाड़ के जीवन के पर्यावरण की पढ़ाई में भी पूरी निष्ठा से रुचि ली थी। वे चिपको आंदोलन के जनक श्री चंडीप्रसाद भट्ट के साथ आंदोलन के कई मोर्चों पर लड़े भी थे और बाद में उसके रचनात्मक पक्ष में भी सक्रिय रहे थे। संघर्ष और रचना का संयुक्त पाठ उन्होंने वहीं से सीखा था।

सन् 1979 में अपनी पढ़ाई पूरी कर वे पौड़ी जिले में अपने गाँव गाडखर्क, उफरैखाल लौटे थे। उन्हीं दिनों उन्हें गाँव में खबर मिली

कि उत्तराखंड के मध्य में स्थित दूधातोली क्षेत्र में वन विभाग फर-रागा के पेड़ों का कटान कर रहा है। हिमालय में रागा प्रजाति भोजवृक्ष की तरह ही धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। पुराने पेड़ जा रहे हैं और जो नये पौधे पनपने चाहिए, वे पनप नहीं पा रहे हैं।

श्री भारती को लगा कि इस कटान को तो हर कीमत पर रोकना चाहिए। वे अपने कुछ साथियों के साथ दूधातोली वनक्षेत्र से जुड़े गाँवों की ओर चल पड़े। गाँवों में पदयात्रा के माध्यम से जगह-जगह लोगों को यह समझाने की कोशिश की गयी कि यह वन सरकार का ज़रूर है पर इसके कटान का, इसके विनाश का पहला बुरा झटका गाँवों को भोगना पड़ेगा। यह वन भले ही हमारा न हो पर विनाश हमारा ही होगा। सब लोग साथ दें तो इस विनाश को रोका जा सकता है।

लोगों की जागृति का, एकजुट होने का यह किस्सा काफी पुराना और लंबा भी है। यहां उसे दुहराना आवश्यक नहीं हैं बस इतना ही बता देना काफी है कि कई बार अच्छे ढंग से रखी गई बात सरकार और उसके अधिकारी भी समझ लेते हैं और हमेशा संघर्ष, टकराव का रास्ता ज़रूरी नहीं होता। दूधातोली में भी यही हुआ।

ऐसी घटना उस क्षेत्र के लिए नयी थी। इससे दो बातें निकलीं-एक तो यह कि लोग एक हो जाएं तो सरकार के गलत कामों, निर्णयों को भी रोका जा सकता है, बदला जा सकता है और दूसरी यह कि अब जब एक बड़े विनाश को रोक ही लिया गया है तो फिर इसी स्थान से वनों के संवर्धन का काम क्यों न शुरू किया जाए।

एक पर्यावरण शिविर रखा गया। आस-पास और कुछ दूर के लोगों को, गाँवों को उफरैखाल आने का न्योता दिया गया। सड़कों से बहुत दूर छोटा-सा गाँव, हाथ में न कोई साधन, न कोई सम्पर्क। शिविर तो रख लिया पर इसके लिए पैसा चाहिए था। भोजन आदि पर कुछ तो खर्च होगा ही। किससे पूछें, किससे मांगें? नयी दिल्ली के गांधी शांति प्रतिष्ठान को पत्र लिखा। एक हजार रुपये वहां से आये।

इसी तरह जुलाई 1980 में दूधातोली क्षेत्र में पहला पर्यावरण शिविर संपन्न हुआ। लोगों ने अपने-अपने क्षेत्रों की परिस्थिति, वनों की स्थिति, कहां क्या कितना उजड़ गया है आदि बातें एक दूसरे के सामने रखीं। जो घटनाएं चुपचाप घट रही थीं, उनका मौन तो टूटा। शिविर के अंत में सबने पास के वन क्षेत्र में जाकर पौधों का रोपण किया।

दूधातोली क्षेत्र में पहले शिविर से एक नये विचार का पौधा

लगा इस तरह। अब इस विचार को रोपने वाले हाथों को भी पता नहीं था कि आगे चलकर यह इस क्षेत्र के ठीक विकास का एक मजबूत वृक्ष बन जाए और इसकी घनी छाया में कई और विचार पनपते जाएंगे।

इस काम को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए सन् 1982 में एक संस्था बनी : 'दूधातोली लोक विकास संस्थान'। स्थापना के समय ही कुछ बातें तय की गयी थीं। अपने क्षेत्र में पर्यावरण संवर्धन का काम तो करना ही है तो इसमें संस्था का आधार वहीं के लोग तथा देसी साधन हों, इसका पूरा ध्यान रखा जाएगा। यह भी योजना बनी कि शिविरों के माध्यम से यह सब काम किया जाएगा। जल्दी ही समझ में आ गया कि वनीकरण करना है तो अपनी ज़रूरत के पौधे भी खुद ही तैयार करने पड़ेंगे। संस्था बनाने में शिक्षकों की भूमिका प्रमुख थी, इसलिए आगे की योजनाओं में उनका ध्यान सबसे पहले अपने छात्रों की तरफ गया। तब स्कूलों में पर्यावरण संवर्धन एक विषय की तरह नहीं आया था। पर यहां तो यह पढ़ाई का नहीं, जीवन का एक अंग बन गया।

छात्रों ने अपने शिक्षकों की प्रेरणा से तरह-तरह के बीजों का संग्रह प्रारंभ किया। सबसे पहले इन लोगों ने अखरोट के पौधों की एक नर्सरी बनाई। इस पौधों की बिक्री प्रारंभ हुई। वहीं के गाँवों से वहीं की संस्था को पौधों की बिक्री से कुछ आमदनी होने लगी। यह राशि फिर वहीं लगने जा रही थी। छोटे-छोटे साधनों से एक बड़े साध्य को साधने की लंबी यात्रा का प्रारंभ हुआ। एक के बाद एक शिविर लगते गये और उजड़े वन क्षेत्रों में धीरे-धीरे वनीकरण होने लगा।

इन शिविरों में रस्म पूरी नहीं की जाती थीं। पूरा काम करने के लिए ये लगते थे, इसलिए कभी-कभी तो इनकी अवधि 10 दिन तक भी होती। कभी ये वन क्षेत्र में लगते तो, कभी गाँवों के स्कूल में, पंचायत भवन में। ध्यान रखा जाता कि स्थान सार्वजनिक हो ताकि सभी लोग इनमें आ सकें। शिविर कहीं भी लगे, इनमें आसपास के पांच-दस गाँवों के स्त्री-पुरुषों, बच्चों को जोड़ने की कोशिश होती थी। चूँकि शिविरों का मुख्य विषय ही घास, जंगल, पानी, खेती आदि हुआ करता-इसलिए धीरे-धीरे इनसे महिलाएँ जुड़ती चली गयीं। फिर इन्हीं शिविरों में हुई बातचीत से यह निर्णय सामने आया कि हर गाँव में अपना वन बने। वह सघन भी बने ताकि ईंधन, चारे आदि के लिए महिलाओं की सुविधा बढ़ सके। इस तरह हर शिविर के बाद उन गाँवों में महिलाओं के अपने नये संगठन उभर आए। ये महिला मंगल दल कहलाए।

ये महिला दल कागज़ी नहीं थे। कागज़ पर बने ही नहीं थे। कोई लेखा-जोखा, रजिस्टर, दस्तावेज़ नहीं। पूरे सच्चे मन से बने संगठन थे इसलिए शिविर चलाने वाली मुख्य मानी गयी संस्था दूधातोली के कार्यालय में भी इनकी गिनती या ब्यौरा देखने को नहीं मिलता। ऐसे महिला मंगल दलों की वास्तविकता तो उन गाँवों में धीरे-धीरे ऊँचे उठ रहे सघन हो चले वनों से ही पता चल सकती है।

प्रतिदिन दल की सदस्याएं बारी-बारी से वन की रखवाली

करती हैं। रखवाली का तरीका अपने आप में अनोखा और सुरीला, संगीतमय है।

एक लाठी है। लेकिन यह साधारण लाठी नहीं है। इसके ऊपरी सिरे पर बड़े आकार के दो-चार घुंघरू लगे हैं। इस लाठी का नाम हैं खांकर। खांकर लेकर महिलाएं वन में रखवाली करती हैं। हर कदम पर लाठी ज़मीन पर लगती है और खांकर के घुंघरू खनक जाते हैं। एक खांकर की संगीतमय ध्वनि वन की घनी चुप्पी को तोड़ती वन के दूसरे भागों में इसी तरह रखवाली कर रही अन्य महिलाओं को एक-दूसरे से जोड़े रखती है। यह संगीतमय लाठी एक अन्य सुरीली व्यवस्था का भी अंग है। सांझ को वन की रखवाली के बाद महिलाएं गाँव वापस आती हैं और अपनी खांकर अपने दरवाज़े के आगे न रख किसी अन्य महिला के दरवाज़े पर टिका देती हैं। इसका अर्थ है कल उस घर की महिला खांकर लेकर वन रखवाली के लिए निकलेगी। अपने बच्चों की तरह पाल पोसकर खड़े किये वनों की रखवाली, निगरानी, सार संभाल का यह धरेलू तरीका आज दूधातोली क्षेत्र के कोई 136 गाँवों में बड़े नियम से, स्व अनुशासन से चल रहा है। प्रायः पगडंडियों में बटे और पहाड़ों की चोटियों घाटियों में एक दूसरे से मीलों दूर बसे ये गाँव बिना बाहरी पैसे के, आदेश के अपने दम पर खांकर के संगीत से जुड़ते गये।

इन शिविरों का आयोजन हमेशा बड़ी सरलता से होता रहा हो-ऐसा नहीं है। बीच के कई वर्ष बड़ी कठिनाई के वर्ष थे। कहीं से भी कोई मदद नहीं थी। पर शिविरों की और काम की कड़ी कभी टूटने नहीं दी गयी। गाँवों ने अपने सीमित साधनों से इस असीमित काम को जारी रखने की बराबर कोशिश की।

1993 में प्रारंभ में, सच्चिदानंद भारती ने अपने क्षेत्र में वनों के साथ पानी की परंपरा को भी समझना प्रारंभ किया। पहाड़ों में ताल तो आज भी हैं। इनकी संख्या तेज़ ढलानों के कारण कम ही रही है। पर खाल और चाल नामक दो रूप भी यहां रहे हैं। वे पिछली सदी में लगभग मिट गये थे। दूधातोली का उफरैखाल नाम स्वयं इस बात का प्रतीक था कि कभी यहां पानी का अच्छा प्रबंध रहा होगा। खाल ताल से छोटा रूप है तो चाल खाल से भी छोटा। ये ऊंचे पहाड़ों की तीखी ढलानों पर भी बनती रही हैं। पर अब तो ये सामने थी नहीं। नया काम कैसे करें? किसी को कुछ पता नहीं था। इसलिए कुछ आपसी बातचीत, कुछ अन्दाज़, कुछ प्रयोग से वनों के संवर्धन के साथ पहाड़ों में जल संरक्षण के काम को जोड़ा। एक से एक जुड़ा तो योग दो न होकर ग्यारह हो गया। इकाई से इकाई मिली और दहाई परिणाम सामने आने लगे।

दूधातोली क्षेत्र में चाल बनाने का काम गाडखर्क गाँव से, उफरैखाल से प्रारंभ हुआ पर फिर तो यह जंगल की आग की तरह फैलने लगा। आज इस क्षेत्र में कोई 35 गाँव में खाली पड़ी बंजर ज़मीन पर, पानी की कमी से उजड़ गये खेतों में और अच्छे घने वनों तक में कोई 7000 चालें वर्ष भर चांदी की तरह चमकती हैं। उत्तराखंड में जब सन् 1999 में सभी जगह पानी की बेहद कमी थी,

अकाल पड़ रहा था तब दूधातोली क्षेत्र में अप्रैल, मई, जून के महीनों में भी चालों में लबालब पानी भरा रहा। सन् 2010 में इस इलाके में कोई 20,000 छोटी-बड़ी चाल बन चुकी हैं।

चालों के चलन की फिर से वापसी ने इस क्षेत्र में अनेक परिवर्तन किये हैं। उजड़े खेतों में फिर से फसल लगाने की तैयारी हो रही है। बंजर वन-भूमि में साल भर पानी रहने के कारण प्रकृति स्वयं अपने अनेक अदृश्य हाथों से उसमें घास और पौधे लगा रही है तो ठीक पनप चुके वनों में और सघनता आ रही है। घास, चारा, ईंधन और पानी-इनके बिना पर्वतीय व्यवस्था चरमरा गयी थी। आज यहां फिर से जीवन का मधुर संगीत वापस लौट रहा है। **‘घास, चारा, पानी - यों के बिना योजना कानी’** का नारा भी यहां चलता है।

चाल का जो काम जंगलों में आग की तरह फैला है, उसने जंगलों की आग को भी समेटने में अद्भुत भूमिका निभायी है। उत्तराखंड और देश के अन्य पर्वतीय क्षेत्रों में हर वर्ष गरमी के महीनों में वनों में बड़े पैमाने पर आग लगने की घटनाएं होती हैं। इन्हें बुझाने का कोई कारगर तरीका अभी तक वन विभाग के हाथ नहीं आया है। जब भी इस विषय पर बहस होती है तो हमारा वन विभाग रूस, ग्रीस, स्पेन, अमेरिका तथा ऑस्ट्रेलिया के वन क्षेत्रों का उदाहरण देकर हैलिकॉप्टरों के उपयोग की वकालत करता है। वह यह भूल जाता है कि वहां हैलिकॉप्टरों से भी आग नहीं बुझती है। ये घटनाएं हर साल बढ़ती ही जा रही है।।

वनों में आग एक बड़ी समस्या है। वर्षा के दिनों में बरसा पानी पहाड़ की चोटियों से नीचे घाटी में, नदी में चला जाता है। फिर ठंड का मौसम तो ठीक बीतता है पर गरमी की ऋतु आते ही सारा वन क्षेत्र तप जाता है। घास सूख जाती है और वन के वन सूखी घास के ढेर पर बस ज़रा सी एक चिनगारी का इन्तज़ार करते रहते हैं। मई 1998 में कोई 80,000 हेक्टेयर वन क्षेत्र आग में स्वाहा हुआ था। आज देश में प्रतिवर्ष वनों की आग से कोई 450 करोड़ रुपये की हानि होती है लेकिन कीमती वन, पेड़-पौधे, घास, चारा और वन्य जीव के उस नुकसान को आप सरकारी आंकड़ों में, रुपयों में नहीं नाप सकते। प्रकृति की वर्षों की मेहनत, समाज के लिए पीढ़ियों की सुविधा अकाल, बाढ़ से रक्षा का सर्वोच्च कवच-सबकुछ देखते ही देखते राख हो जाता है।

दूधातोली में जब से पानी का, चाल और खाल का काम प्रारंभ हुआ है, तब से यहां के वन आग से सुरक्षित हो चले हैं। सभी ग्राम वनों में बनी चालों के कारण उनमें गर्मी के तपते मौसम में भी नमी और इस कारण हरियाली बनी रही है, आग नहीं लग पाती। कहीं आग लग भी जाए तो यह लाचारी नहीं होती कि अब इसे कैसे बुझाया जाए। भरनों नामक गाँव के अपने पाले वन में, मई 1998 में आग ज़रूर लगी थी पर चालों की उपस्थिति के कारण वह जल्दी ही नियंत्रण में आ गयी थी। पर इसी गाँव के पास का सरकारी वन आग से बच नहीं पाया था। इसी तरह जन्द्रिया गाँव का सरकारी वन भी आग की भेंट चढ़ा था। यहां वन विभाग वनों को आग से बचाने

की अपील करने वाले बोर्ड लगाने तो आता है पर आग बुझाने नहीं आ पाता। इन गाँवों में लोगों ने चाल बनाकर अपने वन सुरक्षित किये हैं और शासकीय वनों में लगी आग को भी अपनी चालों के पानी से बुझाने का प्रयास किया है। सन् 1998 की मई में ऐसे प्रयासों में गाँव की तीन महिलाएं आग बुझाते हुए स्वयं झुलस गयी थीं और उन्हें बचाया नहीं जा सका था।

इन चालों ने या अब जिन्हें यहां जल तलाई भी कहा जाने लगा है, गाँव में शासकीय जल प्रदाय योजनाओं को भी नया जीवन दिया है। उत्तराखंड के अनेक गाँवों में पानी की कमी होने लगी है। हिमालय पानी का, नदियों का मायका भी कहलाता है पर पानी के मायके में ही पानी नहीं बच पाता था। ‘स्वजल’ जैसी खर्चीली योजनाओं ने भी पैसा खूब बहाया पर पानी नहीं बह पाया है। एक सीमित क्षेत्र में ही सही पर लोगों की चालों ने यहां पानी का प्रश्न हल करके दिखाया है। अब पूरे वर्ष भर पानी खूब है। चालों ने सूख चुके नालों को, छोटी नदियों को, गदरों को भी सरस कर दिया है।

उफरैखाल के वन से निकलने वाली सूखारौला नदी वर्षा में उफन जाती थी और फिर नवम्बर में ही सूख जाती थी। इसलिए इसका नाम ही सूखारौला पड़ चुका था। यहां सन् 1993 से 1998 तक कोई 1000 जल तलाई बनी होंगी-इन सबमें संचित जल की एक-एक बूंद ने सूखारौला का स्वभाव बदला। सूखे दिनों में भी उसमें पानी था। पर गाँव ने धीरज रखा, एकदम नाम नहीं बदला। जब जनवरी 2001 में भी सूखारौला सूखा नहीं तो कृतज्ञ गाँव ने इसका नया नाम रखने का निर्णय लिया। क्या होगा नया नाम? नया नाम रखना कोई आसान काम नहीं था। पर इस कठिन काम को गाँव ने अपनी श्रद्धा से गंगा के साथ जोड़ना ही उचित समझा। गाँव का नाम गाडखरक तो नई नदी हो गयी गाडगंगा। आज गाडगंगा वर्ष भर बहती है और फिर पसोली नदी में मिलकर उसे और भी समृद्ध कर रही है।

हिमालय के इन गाँवों को उदारता से इतना लाभ बांटने वाली चाल स्वयं बहुत ही छोटी होती है। इस छोटेपन में ही इसका बड़प्पन छिपा है। जहां भी ठीक जगह मिली वहां 5 से 10 घनमीटर के आकार की जल तलाई बनाई जाती है। यह अपने आपसे कोई चमत्कार नहीं कर सकती। चमत्कार जल तलाई की श्रृंखला में छिपा है। जब ऊपर से नीचे तक पूरे ढलान को अनेक जल तलाई अपने छोटे-छोटे आकार से ढक देती है तब पानी का अक्षय भंडार बन जाता है। पानी पहाड़ी ढलानों में यहां-वहां से बहता है, इसलिए जल तलाई भी यहां-वहां ही बनाई जाती है और इस तरह हर जगह पानी एकत्र होता जाता है। इन सबमें संग्रहीत पानी धीरे-धीरे रिसकर घाटी तक आता है। यहां घाटी में चालों से बड़े ढांचे, यानी खाल या ताल बनाए गए हैं। इनमें भी अब पूरे वर्ष पानी का भंडार बना रहता है।

चाल छोटी है आकार में और लागत में भी। कोई 50 से 100-200 रुपये में एक चाल बन जाती है। बनाने वाले इसे अपना काम मानकर बनाते हैं। इसलिए 50-100 की मदद भी कम नहीं

मानते। वे इसे बनाते समय अपने को किसी को मजदूर नहीं मानते। वे इसके मालिक हैं और इनके स्वामित्व से सामाजिक समृद्धि साकार होती है। ऐसी सुदृढ़ समृद्धि पूरे समाज का आत्मविश्वास बढ़ाती हैं उनका माथा ऊंचा करती है। तब यदि अचानक कोई बड़ी लेकिन अव्यावहारिक योजना वहां आ जाए तो लोगों के पैर नहीं डगमगाते।

एक ऐसी ही योजना सन् 1998 में इस क्षेत्र की पूर्वी नयार घाटी में आयी थी। जलागम विकास का काम था। समर्थन था विश्व बैंक जैसी सम्पन्न संस्था का। पर इन गाँवों ने उसका समर्थन नहीं किया।

काम तो वही था जिसे ये गाँव कर ही रहे थे-वनों का विकास। जलागम क्षेत्र का विकास। पैसे की कोई कमी नहीं थी। पूरी परियोजना की लागत 90 करोड़ रुपये थी। गाँव-गाँव में जब इस योजना का बखान करने वाले बड़े-बड़े बोर्ड लग गये तब सच्चिदानंद भारती ने वन विभाग के जिम्मेदार अधिकारियों को एक छोटा-सा पत्र भर लिखा था। उसमें उन्होंने बड़ी विनम्रता से बताया था कि इस क्षेत्र में वनों का, पानी का अच्छा काम गाँव खुद ही कर चुके हैं - बिना बाहरी, विदेशी या सरकारी मदद के। तब यहाँ इन 90 करोड़ रुपयों से और क्या काम करने जा रहे हैं आप? भरोसा न हो तो कुछ अच्छे अधिकारियों का एक दल यहाँ भेजें, उससे जांच करवा लें और यदि हमारी बात सही लगे तो कृपया इस योजना को यहाँ से वापस ले लें। शायद देश में पहली बार ही ऐसा हुआ होगा कि सचमुच वन विभाग का एक दल यहाँ आया और इस क्षेत्र में पहले से ही लगे, पनपे और पाले गये सुंदर घने वनों को देखकर न सिर्फ चुपचाप लौट गया, बल्कि अपने साथ 90 करोड़ की योजना भी समेट ले गया।

वनों के गाँव, हिमालय के कुछ थोड़े से गाँव तय कर लें तो वे बिना बाहरी मदद, विदेशी पैसे, सरकारी पैसे के अपने और अपने थोड़े से शुभचिंतकों के सहारे से कोई एक शताब्दियों की गलतियों को 20 वर्षों में सुधार कर कितना बड़ा काम खड़ा कर दिखा सकते हैं। इसमें केवल उत्तराखंड ही नहीं, सभी पर्वतीय क्षेत्रों के सुधार के बीज छिपे हैं।

पर्वत जैसे इस साध्य को पाने के लिए दूधातोली लोक विकास संस्थान के कार्यकर्ताओं ने साधनों के संबंध में भी एक अलग ही साधना की है। 136 गाँवों में ऐसा सुंदर काम करने वाली संस्था में केवल पांच कार्यकर्ता हैं। प्रमुख हैं श्री सच्चिदानंद भारती। ये उफरैखाल के इंटर कॉलेज में शिक्षक हैं। वेतन शिक्षा विभाग से मिलता है। बच्चों को प्रेम से पढ़ाते हैं और बचे हुए समय में पूरे समय ही समाज सेवा करते हैं। भारती ने शिक्षा को, समाज की सेवा की शिक्षा को सचमुच छोटे से स्कूल की चारदीवारी से बाहर निकाल कर पूरी पट्टी में नीचे घाटियों से लेकर ऊपर की चोटियों तक फैलाया है। दूसरे कार्यकर्ता श्री दिनेश हैं। संस्था के अब ये मंत्री हैं ये उफरैखाल गाँव में ही दवाओं की एक छोटी-सी दुकान चलाते हैं।

जब भी समाज का, संस्था का काम आता है, वे दवा की दुकान का शटर गिराकर सेवा का द्वार खोल लेते हैं। वे भी संस्था से वेतन

नहीं लेते। तीसरे कार्यकर्ता हैं श्री दीनदयाल जी। वे जीविका के लिए डाकिये का काम करते हैं। डाक भी बांटते हैं और साथ-साथ दूधातोली संस्थान के माध्यम से लोगों का दुख-दर्द भी बांट लेते हैं। अपने क्षेत्र में पर्यावरण के संवर्धन की पाती, चिट्ठी भी दूर-दूर पैदल पहुंचाते हैं। और उनकी इस पाती को सब पढ़ते हैं। चौथे हैं विक्रमजी। ये भी गाँव डुलमोट में अपनी पैतृक पनसारी की दुकान का काम देखते हैं। पांचवे हैं हरिसिंह जी। ये खेती करते हैं। और फिर कोई सौ गाँवों में फैले हैं संस्था के स्वयंसेवक। इनकी संख्या होगी लगभग एक हज़ार। इनमें उन महिलाओं की संख्या कोई पांच सौ होगी जो सुबह से शाम तक खांकर लेकर अपने वनों की रखवाली करती हैं।

संस्था के खर्च, इतने बड़े काम के लिए साधन जुटाने में भी भारती ने पहले ही दिन से विदेशी पैसा न लेने का नियम पक्का कर लिया था और भी समाजसेवी संस्थाएं ऐसा करती हैं। फिर समय के साथ-साथ ज़रूरत आ पड़ने पर नियम को तोड़ भी लेती हैं। दूधातोली में यह नियम अभी तक टूटा नहीं है।

साधनों को जुटाने और उन्हें इतनी किफायत से खर्च करने का असर दूसरों पर भी पड़ता है। संस्था रजिस्टर्ड है। हर वर्ष उसे अपनी आमदनी और खर्च का ऑडिट करना पड़ता है। लेकिन इस काम को करने वाले ऑडिटर इस संस्था के लिए अपनी सेवाएं निःशुल्क देते हैं। संस्था भी पूरी ऑडिट रिपोर्ट अपने क्षेत्र के छोटे-बड़े अखबारों में वितरित कर देती है। वे इसे छापकर सार्वजनिक बना देते हैं सार्वजनिक काम की जानकारी सार्वजनिक हो जाती है इस क्षेत्र के ये गाँव कोई 4000 फुट से 7000 फुट की ऊंचाई पर बसे हैं। साल भर मौसम खूब ठंडा रहता है। ठंड के मौसम में अधिकांश भाग बर्फ की चादर से ढंक जाता है ऐसे ठंडे क्षेत्रों में वनस्पति का विस्तार भी बहुत धीरे-धीरे होता है। और कीमती उपजाऊ मिट्टी भी धीरे-धीरे ही बन पाती है। लेकिन तीखी ढलानों के कारण वर्षा के मौसम में इस कीमती मिट्टी को नीचे मैदान की ओर बहने में ज़रा भी देरी नहीं लगती। तेज़ बहता पानी अपने साथ और भी तेजी से मिट्टी काटकर, बहाकर ले जाता है। ऐसे में मिट्टी और पानी का संरक्षण दो-चार साल का नहीं, कुछ सदियों का काम बन जाता है

दूधातोली का यह काम इसलिए बहुत ही धीरज के साथ खड़ा किया गया है। इसमें लक्ष्य संख्या, आंकड़ों या पैसों, रुपयों का नहीं, चुपचाप काम का रखा गया है। इसलिए दूधातोली का यह दल शायद ही कभी अपना क्षेत्र छोड़कर बाहर निकल पाता है। बाहर के लोग, कुछ मित्र, शुभचिंतक यहाँ कभी-कभी ही आ पाते हैं। तब उनका बहुत ही आत्मीय स्वागत होता है। देवपूजन में काम आने वाली पैय्या की पत्ती की सादी लेकिन भव्य माला में बुरांस का एकाध फल पूरे गाँव की आतिथ्य भावना को आनंद में बदल देता है। खेत और वनों के फूल शिविरों को नये ढंग से रंग देते हैं। संगीत टुकड़ी का स्वर, ढोल नगाड़े, रंगसिंगे पूरी घाटी में गूँजने लगते हैं। मिट्टी और पानी को 'परदेस' जाने से रोकने के लिए।

(गांधी शांति प्रतिष्ठान, नयी दिल्ली की पत्रिका गांधी मार्ग से साभार)

ब्रिटिश साम्राज्य-विरोधी संघर्ष का एक भूला-बिसरा नायक फतेह शाही

■ अवधेश प्रधान

1757 में पलासी की हार को भारतीय जनता ने स्वीकार नहीं किया। पराधीनता को बार-बार अस्वीकार करने का साहस बंगाल, असम, बिहार, अवध, केरल, महाराष्ट्र, मैसूर, आंध्र-सब जगह बगावतों और विद्रोहों के रूप में फूटता रहा। 1857 का मुक्ति संग्राम उसी की सर्वोच्च लहर है। 1757 से 1857 के बीच तमाम जन-संघर्ष स्थानीय और आंचलिक स्वरूप के हैं। लेकिन इनके मूल में निहित पराधीनता का विरोधी और मुक्ति का प्रयास इन्हें राष्ट्रीय ऐतिहासिक महत्व प्रदान करता है। उदाहरण के लिए चेतसिंह और वज़ीर अली के विद्रोह की घटना को ले सकते हैं। हैदर अली, मराठों और फ्रांसीसियों के विरुद्ध युद्ध में ब्रिटिश कंपनी का खज़ाना निचुड़ गया तो वारेन हेस्टिंग्स ने उसकी भरपाई के लिए बनारस के राजा चेतसिंह से तयशुदा खिराज के अतिरिक्त 5 लाख की मांग की और धमका कर वसूल किया। अगले साल 1779 में अतिरिक्त 5 लाख के अलावा 20 हज़ार हर्जाना भी वसूल किया। 1780 में 5 लाख के साथ दो हज़ार घुड़सवार की भी मांग रख दी। उसने राजा की एक न सुनी, बनारस खुद आया और राजा को उसके किले में गिरफ्तार कर लिया जिस पर राजा के सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। इसी हंगामे के बीच चेतसिंह बच निकले मगर बनारस की जनता का विद्रोही स्वर और तेवर भांपकर वारेन हेस्टिंग्स रातों-रात अपने साथियों के साथ पैदल किसी तरह चुनार के किले की ओर भाग गया। इस पर जयशंकर प्रसाद ने प्रसिद्ध कहानी 'गुंडा' और रुद्रकाशिकेय ने 'घोड़े पे हौदा और हाथी पे जीन' कहानी लिखी। इस घटना पर बनारस की जनता में एक छंद प्रसिद्ध है - "घोड़े पे हौदा और हाथी पे जीन, धीरे से भाग गयल वारेन हेस्टिन"। 17 अगस्त 1781 के इस विद्रोह के तार बनारस, भदोही, चुनार, मिर्जापुर, चकिया-चंदौली, जौनपुर लखनऊ और बक्सर तक जुड़े हैं। रमेश चंद्र मजूमदार ने लिखा है, "शीघ्र ही यह स्थानीय विद्रोह न रह गया। सारा प्रदेश विद्रोह कर बैठा और यह उथल-पुथल अवध और बिहार में फैल गयी।" अवैध संतान का आरोप लगाकर अंग्रेजों ने वज़ीर

अली को गद्दी से उतार दिया और बनारस भेज दिया, फिर बनारस में रहने से खतरा हो सकता है-यह सोचकर उसे कलकत्ता भेजने की कोशिश की लेकिन वज़ीर अली ने विद्रोह कर दिया। उसे अवध और बिहार के अनेक ज़मींदारों का समर्थन प्राप्त था। उसका दमन करने के लिए जो नवाब की फौज भेजी गयी, उसके बहुत से सैनिक वज़ीर अली से मिल गए। सोवियत इतिहासकार ने लिखा है, "वज़ीर अली को बनारस, बिहार और बंगाल में अंग्रेजों द्वारा अपनी सत्ता से वंचित मुस्लिम और हिंदू सामंतों, कलकत्ता के आर्मेनियाइयों सहित बंगाल के व्यापारियों तथा अवध की स्थानीय फौजों का समर्थन प्राप्त था। उसने रुहेलों के सरदार और मराठा राजा के साथ बातचीत शुरू की और अफगानिस्तान में जमान शाह के पास इस प्रस्ताव के साथ अपने प्रतिनिधि भेजे कि वह भारत पर आक्रमण करे। उसने मस्कट के ज़रिये फ्रांसीसियों के साथ एक संश्रय बनाने की भी कोशिश की।" काबुल के शाह और ढाका के नवाब के साथ दौलतराव सिंधिया और संभवतः टीपू सुल्तान से भी उसने संपर्क बना लिया था। रमेश चंद्र मजूमदार ने वज़ीर अली के विद्रोह के बारे में भी लिखा है, कि वह न तो स्थानीय था, न व्यक्तिगत था, उसका संबंध उस समय के अखिल भारतीय षड्यंत्र से था। इससे निष्कर्ष निकालते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने बहुत सही लिखा है, "वास्तव में वज़ीर अली के संघर्ष में सन् 57 के संघर्ष की अनेक विशेषताएं विद्यमान थीं। अंग्रेजों द्वारा आहत अधिकारों वाला सामंत नेता था; किसानों और ज़मींदारों का समर्थन उसे प्राप्त था। नवाब की सेना का काफी हिस्सा उसे मिल गया था और एक हिन्दुस्तानी राजा ने ही वज़ीर अली को अंत में अंग्रेजों के हवाले किया था। इससे सिद्ध हुआ कि जनता के विभिन्न असंतुष्ट अंगों के मिल जाने पर कोई भी विद्रोह व्यापक होकर जातीय स्वाधीनता संग्राम का रूप ले सकता था।" एस.बी.चौधरी ने इन दोनों विद्रोहों पर अपनी राय देते हुए लिखा है, "चेतसिंह के विद्रोह की तरह वज़ीर अली के विद्रोह में भी राष्ट्रीय विद्रोह के सभी लक्षण विद्यमान

थे। उसे भारी संख्या में हिंदुओं और मुसलमानों दोनों का ही समर्थन प्राप्त था।”

चेतसिंह और वजीर अली के विद्रोह का इतिहासकारों ने उल्लेख किया है लेकिन इसी दौर में सारन-गोरखपुर अंचल के विद्रोही नायक फतेह शाही के साम्राज्य विरोधी संघर्ष का कहीं जिक्र नहीं मिलता। फतेह शाही बिहार में गोपालगंज जिले में स्थित हुस्सेपुर राज्य के राजा थे। वे 1750 में गद्दी पर बैठे। 1765 में जब शाह आलम ने अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी सौंप दी तो सारन के कलेक्टर ने फतेह शाही से कर की मांग की। फतेह शाही ने साफ इन्कार कर दिया क्योंकि उनके पूर्वजों ने कभी किसी को कर नहीं दिया था। ज़ाहिर है, कलेक्टर ने उन्हें समझाने-बुझाने की कोशिश की, कुछ लालच भी दिया और शांतिपूर्वक रहने को कहा। लेकिन फतेह शाही ने विद्रोह का झंडा जो एक बार उठाया तो फिर जीवन भर उठाए रहे। उन्होंने बंकजोगिनी के घने जंगल से छापामार लड़ाई की नीति अख्तियार की। अंग्रेजों ने कर वसूली का काम गोविंद राय नाम के एक पिट्टू को सौंपा। लेकिन वह सफल न हो पाया। क्योंकि जनता फतेह शाही के साथ थी। एक दिन फतेह शाही ने अंग्रेजों के इस पिट्टू का काम तमाम कर दिया। कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने वारेन हेस्टिंग्स के नाम पत्र में सूचित करते हुए लिखा “हम आपको सूचित करना चाहते हैं कि फतेह शाही हुस्सेपुर राज्य के ताल्लुकेदार हैं। वे सन् 1767 में सरकार से विद्रोह कर बैठे और कर देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। जो सेना उनके विद्रोह को दबाने के लिए भेजी गयी थी, उससे डटकर मुकाबला किया। अंततोगत्वा हम लोग बड़ी कठिनाई से उनको बिहार प्रांत से बंकजोगिनी के वन में खदेड़ने में सफल हुए। यह वन अवध के नवाब मिर्जा मयून के इलाके में है। इस वन से कंपनी सरकार के इलाके में आ-आकर सदा उपद्रव मचाया करते हैं और यहां के निवासियों की संपत्ति लूट ले जाया करते हैं। गोविन्द राय जो कंपनी सरकार की ओर से कर वसूली का काम करता था, एक रात उनके द्वारा उसका वध कर दिया गया।” सारन के अधिकारियों ने बहुत समझाया-बुझाया तो उन्होंने शांतिपूर्वक रहने का वादा तो किया मगर दो महीने बाद ही उनके हमले फिर शुरू हो गये। गोविंद राय की हत्या के बाद अंग्रेजों ने फतेह शाही के चचेरे भाई वसंत शाही को इस काम के लिए चुना (ज़ाहिर है, उन्हें फतेह शाही की गद्दी पर बिठाने का लालच दिया होगा और उन्हें कर वसूली के अधिकारी मीर जमाल के साथ नियुक्त कर दिया। एक दिन गोपालगंज से 6-7 कि.मी. दूर जादोपुर

गांव में दोनों ने पड़ाव डाला था तभी फतेह शाही ने छापामार हमला किया जिसमें अंग्रेजों के ये दोनों पिट्टू और उनके पहरेदार सैनिक भी मारे गये। कर वसूली का काम बंद हो गया। अंग्रेज सैनिक अधिकारी जॉन आर्सकन ने 4 मई 1775 को बिहार के राजस्व अधिकारी इसाक सेज को सूचित किया और लिखा कि “कल सूर्यास्त के समय सीवान कैम्प में मुझे भी मुगल का पत्र मिला। उसने सूचित किया है कि जादोपुर ग्राम में जहां वसंत शाही और जमाल ठहरे थे, कल सूर्योदय से पहले फतेह शाही ने अचानक आक्रमण कर उन दोनों को तथा उनके अधिकांश साथियों को मार डाला है। मीर मुगल ने यह भी लिखा है कि मैं जल्द से जल्द अतिरिक्त सेना की टुकड़ी के साथ बड़ा गांव चला जाऊं क्योंकि फतेह शाही द्वारा आक्रमण की आशंका वहां भी की जाती है। अतः सेना की एक टुकड़ी के साथ लगभग 10 बजे मैं यहां पहुंच गया।” इसी पत्र में गुप्तचरों के हवाले से यह भी सूचित किया गया है कि वसंत शाही और मीर जमाल तथा उनके सिपाहियों की हत्या के बाद वहां की धन-संपत्ति आदि लूटकर फतेह शाही फिर बंकजोगिनी के जंगल में घुस गए हैं। घटनास्थल से भागकर कुछ घायलों ने सूचना दी थी कि ‘जिस समय फतेह शाही ने आक्रमण किया उस समय उनके साथ 25 घुड़सवार और दो सौ से तीन सौ के बीच सशस्त्र सैनिक थे। यदि कुछ फौज की टुकड़ी रहती तो भी मैं (यानी जौन आर्सकिन) नहीं समझता, कहां तक इस दर्दनाक घटना को रोकने में हम लोग समर्थ होते। कारण कि आप लोगों ने मुझे बराबर हिदायत दी है कि मैं मिर्जा मयून के इलाके में घुसकर इन्हें पकड़ने की चेष्टा न करूं। मिर्जा मयून के इलाके में छिपकर वे हमारी पहुंच से बाहर रहते हैं।”

बंकजोगिनी के जंगल में रहकर लड़ाई जारी रखने की रणनीति फतेह शाही ने जान-बूझकर अपनाई थी। इस तरह वे कंपनी राज और अवध के अंतर्विरोधों का फायदा उठाते हुए, अपनी सैनिक शक्ति का कम से कम नुकसान झेलते हुए दुश्मन को अधिक से अधिक परेशान और तबाह करते रह सकते थे। इस रणनीति से अंग्रेज सैन्य अधिकारी कितनी मुश्किल में थे, इसका कुछ अनुमान उपर्युक्त पत्र की इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है, “जहां तक मेरा विश्वास है कि जब तक आप मुझे एक बटालियन सेना के साथ बंकजोगिनी के जंगल में घुसकर उन्हें पकड़ने की आज्ञा नहीं देंगे तब तक यहां के निवासियों के लिए संकट बना रहेगा। मैं आपको अवगत करा देना चाहता हूं कि बंकजोगिनी के घने जंगल में इतने पगडंडी रास्ते हैं कि उन रास्तों पर घेरा

देने के लिए कम से कम एक बटालियन सेना की आवश्यकता होगी।” हुस्सेपुर का इलाका कंपनी सरकार के अंतर्गत था लेकिन बंकजोगिनी का इलाका अवध के नवाब के अधिकार में था। इसलिए फतेह शाही को पकड़ने के लिए कंपनी सरकार ने नवाब से सहायता मांगी। नवाब ने गोरखपुर के फौजदार को फतेह शाही को पकड़ने में अंग्रेजी सेना का सहयोग करने का आदेश दिया लेकिन पांचवी बटालियन के सेनापति टी. हार्डिंग ने बिहार के राजस्व अधिकारी साइमन डोन के नाम पत्र में जो कुछ लिखा है उससे अनुमान होता है कि गोरखपुर का फौजदार फतेह शाही को पकड़ने में कोई रुचि न रखता था और अंततः अंग्रेजी सेना को खाली हाथ लौट आना पड़ा। 29 जनवरी 1777 के उपर्युक्त पत्र में टी. हार्डिंग लिखता है, “...मैं अपनी सेना के साथ बड़ा गांव लौट आया हूँ। आपने हिदायत दी थी कि मुझे फतेह शाही को पकड़ने के लिए फौजदार सैयद मुहम्मद की इच्छानुसार उनकी सहायता करनी होगी। ...मैंने फौजदार से अनुरोध किया कि वे अपनी सेना के साथ कम से कम डेढ़ सौ फीट भी जंगल में घुसने की आज्ञा दें। किंतु उनकी सेना का एक भी सिपाही घोर वन युद्ध की अनभिज्ञता अथवा और किसी कारण से एक गज भी वन के भीतर घुसने को तैयार नहीं था। ...मैंने यह भी देखा कि वे विद्रोही को पकड़ने के बजाए उनसे नवाब के इलाके की कर वसूली का काम कराते थे।” 6 फरवरी 1777 को वारेन हेस्टिंग्स के नाम अंग्रेज अधिकारियों के एक पत्र में उपर्युक्त पत्र का हवाला देते हुए साफ लिखा गया है कि “हार्डिंग के पत्र से आपको ज्ञात होगा कि नवाब के आदेश के बावजूद भी गोरखपुर के फौजदार ने हम लोगों की सहायता करने में कितना ध्यान दिया है...नवाब के फौजदार शायद यह चाहते हैं कि वहां की परिस्थिति जैसी इस समय है वैसी ही बनी रहे।” ज़ाहिर है, फतेह शाही ने गोरखपुर के स्थानीय अधिकारियों को अपने पक्ष में कर लेने में सफलता पाई थी। और यह उनका प्रभाव ही था जिससे नवाब भी उन्हें पकड़ने में ज़्यादा उत्साह नहीं दिखला रहे थे। इसी पत्र से यह भी पता चलता है कि अंग्रेज़ अधिकारियों ने अपने राजदूत के माध्यम से नवाब के पास यह प्रस्ताव भेजा था कि वे गोरखपुर अंचल की कर वसूली का अधिकार अंग्रेजों को दे दें जिससे नवाब को कर वसूली में सुविधा होगी। अंग्रेजों की मंशा थी कि अगर कर वसूली के बहाने उन्हें गोरखपुर में अड्डा जमाने का मौका मिल जाए तो वे फतेह शाही को तबाह कर सकेंगे। लेकिन नवाब ने इजाज़त न दी। अंग्रेजों का अनुमान था कि नवाब को इजाज़त देने से गोरखपुर के फौजदार ने ही मना

किया होगा, “जहां तक हम लोगों का ख्याल है, इस प्रस्ताव को नवाब ने गोरखपुर के फौजदार के पास उनका विचार जानने के लिए भेजा होगा। शायद उन्होंने ही नवाब को स्वीकृति न देने के लिए बाध्य किया होगा।”

फतेह शाही को पकड़ने में बार-बार असफल होने के बाद अंततः गवर्नर जनरल ने बिहार के प्रांतीय राजस्व विभाग को 13 जनवरी 1778 को यह आदेश पत्र जारी किया, “इस समय सेना की सहायता से फतेह शाही को पकड़ना ठीक नहीं जान पड़ता किंतु आप दूसरे उपायों से उसे पकड़ने में अपनी सारी शक्ति लगा दें। यदि आपकी समझ में ठीक जान पड़े तो आपको अधिकार देते हैं कि आप मुनादी करा दें, जो कहीं भी फतेह शाही को पकड़कर दें या उनके निवास स्थान का ठीक पता दें जिससे वे पकड़े जा सकें तो उस व्यक्ति के लिए नकद दस हजार रुपये पुरस्कार के रूप में दिये जाएंगे।” मुनादी करने में भी खतरा था इसलिए अंग्रेजों ने गुप्त रूप से इस प्रलोभन का प्रचार कराया लेकिन फतेह शाही पकड़े नहीं जा सके। कंपनी सरकार ने यह भी कोशिश की कि नवाब फतेह शाही या उनके वंशज को राज्य के अधिकार से वंचित कर दें लेकिन नवाब को हिम्मत न हुई। 23 वर्षों तक बगावत का झंडा उठाये लड़ते रहने के बाद 1790 में फतेह शाही ने अपने पुत्र को तमकुही (गोरखपुर) की गद्दी पर बिठाकर संन्यास ले लिया, कुछ लोग कहते हैं, महाराष्ट्र की ओर चले गये। उसी वर्ष लार्ड कार्नवालिस ने वसंत शाही के नाबालिग पौत्र छत्रधारी शाही को हुस्सेपुर का उत्तराधिकारी घोषित किया (बाद में यह राज्य हथुआ स्थानांतरित हो गया) लेकिन फतेह शाही के संन्यास के बावजूद उनका आतंक इतना जबरदस्त था कि 1836 में उनकी मृत्यु से पहले छत्रधारी शाही का हथुआ नरेश के रूप में राज्याभिषेक और महाराजा बहादुर की उपाधि देने की हिम्मत नहीं हुई। राजधानी को हुस्सेपुर से हटाकर हथुआ में इसीलिए बसाया गया ताकि हथुआ से पहले लाइन बाज़ार में स्थित अंग्रेजों की सैनिक छावनी फतेह शाही के हमलों से बचाव कर सके।

पूरे घटनाक्रम पर ध्यान देने से फतेह शाही के साम्राज्यविरोधी संघर्ष की अनेक मान्यताएं 1857 के योद्धा नायक अमर सिंह से मेल खाती हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार की सीमान्त की जनता का जबर्दस्त सहयोग और जंगल में अपनी सैनिक ताकत को बचाए रखते हुए लंबे वर्षों तक छापामार लड़ाई कुंवर सिंह-अमर सिंह की तरह फतेह शाही का शौर्यपूर्ण संग्राम भी लोक स्मृतियों में ही सुरक्षित रहा।

अब तक कोई लोकगीत तो नहीं मिला लेकिन उनकी वीरता की कहानियां गोपालगंज से लेकर गोरखपुर के देहातों में अब तक जिंदा हैं। हुस्सेपुर के वयोवृद्ध साहित्यकार अक्षयवर दीक्षित ने मुझे बताया कि जब वे छोटे थे तो उनकी मां उनके किसी बाल हठ पर चिढ़कर कहती थीं - एक फतेहशाही लागल बा। यानी उस अंचल में 'फतेह शाही' मुहावरों-लोकोक्तियों में वैसे ही शामिल हो गयी है जैसे राजस्थान में हमीर का हठ-तिरिया तेल हमीर हठ चढ़े न दूजी बार! आज भी, जनता में हथुआ राज को अंग्रेजी राज का पिट्टू माना जाता है और हथुआ राज परिवार के लोग आज भी तमकुही से 'हाड़ बराते' हैं। फतेह शाही की मां बलिया जिले के गांव लिलकर-सीसोटांड के एतिम राय की बेटि थीं। इनके ननिहाल के लोगों ने भी फतेह शाही के संघर्ष में योगदान किया था। बचपन में ही उनकी शौर्यगाथा वहां के साहित्यकार कुलदीप नारायण 'झड़प' ने सुनी थी। तभी उन्होंने भोजपुरी में 'मीरजमाल बध' नाम का काव्य रचा।

खेद और आश्चर्य की बात है कि साम्राज्यविरोधी संघर्ष के इस अप्रतिम वीर नायक की ओर उन सबाल्टर्नवादी इतिहासकारों की तुलना में स्थानीय लेखकों का प्रयास कहीं सराहनीय है जिन्होंने फतेह शाही के संघर्ष पर उपलब्ध सामग्री को सहेजने का काम किया। इनमें दो प्रयास महत्वपूर्ण हैं - एक तो हथुआ के प्राचार्य भोलानाथ सिंह की "सारण्य जनपद का उत्तरांचल-एक ऐतिहासिक विश्लेषण" और दूसरा, अक्षयवर दीक्षित द्वारा संपादित पुस्तक "भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम का प्रथम वीर नायक"। दीक्षित जी की पुस्तक में कुछ ऐसे संकेत हैं जिन पर व्यवस्थित अनुसंधान किया जाए तो स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास का एक नया उज्ज्वल अध्याय हमारे सामने आ जाएगा। इनमें से कुछ संकेतों की चर्चा नीचे की जा रही है।

जिस प्रकार वज़ीर अली ने विभिन्न राज्यों और राजाओं से संपर्क साधकर अपनी ताकत बढ़ाई उसी प्रकार की राजनीतिक चातुरी फतेह शाही की रणनीति में भी दिखाई देती है। सबसे पहले, गोविन्द राय की हत्या के बाद अंग्रेजों के समझाने-बुझाने पर फतेह शाही का पटना जाना और संधि स्वीकार करना-इस घटना को लेते हैं। अक्षयवर दीक्षित ने लिखा है कि यह संधि फतेह शाही ने कुछ समय के लिए इसलिए कर ली थी ताकि इस बीच वे बेटियों की शादी कर ले। बेटियों की शादी भी उन्होंने चेतसिंह के बेटों से की। शादी में वे गुप्त वेश में आए, कन्यादान किया और उसी तरह फिर जंगलों में

निकल गए और कुछ दिनों बाद फिर वही विद्रोह का रास्ता पकड़ लिया। अक्षयवर दीक्षित के लेख से पता चलता है कि चेतसिंह की गिरफ्तारी के समय वे बनारस में ही थे और विद्रोह में उन्होंने सदल-बल भाग लिया। इस लड़ाई में उनका बड़ा बेटा मारा गया। बनारस पर अंग्रेजों का कब्जा हो जाने के बाद चेतसिंह माधव राव शिन्दे के राज्य में चले गये और वहीं उनकी मृत्यु भी हुई। कुछ लोग कहते हैं कि अंत में फतेह शाही भी चेतसिंह के ही साथ महाराष्ट्र चले गये थे। एक तो इसमें समय का अंतराल भी है; दूसरे, फतेह शाही का चरित्र चेतसिंह से भिन्न था। चेतसिंह ने अपने साथी मनियार की सलाह के बावजूद वारेन हेस्टिंग्स को गिरफ्तार करने का साहस नहीं किया; हर वक्त समझौते की जुगत में रहे, विद्रोह तो वस्तुतः बनारस की जनता ने किया था। फतेह शाही की छवि इससे भिन्न है। ये संघर्ष के नेता हैं, अगली कतार में हैं और उन्हें जनता का सहयोग प्राप्त है। जनता के अपार सहयोग के बगैर हुस्सेपुर, गोपालगंज, भोरे, सासामूसा, मीरगंज, कटेया, कुचाय कोट, छपरा, मांझी, मंझौली से लेकर तमकुही-गोरखपुर-देवरिया-बनारस तक के दायरे में तेईस वर्षों तक बगावत का झंडा बुलंद किये रहना संभव न था। चेतसिंह वाली घटना पर इस कारण ध्यान देना ज़रूरी है कि इससे अंग्रेजों के विरुद्ध फतेह शाही के बनारस राज्य से राजनीतिक संपर्क की बात ज़ाहिर होती है। कुलदीप नारायण 'झड़प' ने लिखा है कि बक्सर की लड़ाई (1764 ई.) में अंग्रेजों के विरुद्ध फतेह शाही ने अवध के नवाब का साथ दिया था और तब बक्सर बनारस के राज्य में शरीक था। कुछ इतिहासकारों ने वज़ीर अली के लिए लिखा है कि उसने एक हज़ार से भी अधिक सैनिकों को साथ लेकर गोरखपुर में अंग्रेजों को अस्त-व्यस्त कर दिया था। पता लगाना चाहिए कि वज़ीर अली के विद्रोह में भी फतेह बहादुर शाही का सहयोग था या नहीं? इससे हमारे सामने साम्राज्य-विरोधी चेतना की वह तस्वीर सामने आयेगी जिसमें अंग्रेजों के विरुद्ध जिस प्रकार दक्षिण में हैदर अली और टीपू, मराठों और निजाम के बीच एकता के प्रयास हो रहे हैं उसी प्रकार उत्तर में भी पटना-बक्सर-बनारस-अवध-गोरखपुर-सीवान के बीच एकता की छटपटाहट मौजूद है। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध का एक भूला-बिसरा नायक इतिहासकारों के आगे चुनौती पेश करता है - इतिहास को यहां से देखो!

विवेक को रौंदती आस्थाएं

■ कुमार नरेंद्र सिंह

चंद दिनों पहले टीवी न्यूज चैनल पर देखा कि तिरुवनंतपुरम के एक मंदिर में, जहां अपार भीड़ है, अबोध बच्चों को 15 फीट की ऊंचाई से फेंका जा रहा है और नीचे एक कपड़े का टुकड़ा पकड़े कुछ लोग उसे पकड़ रहे हैं। इसी तरह यह भी देखने में आया कि कर्नाटक के गुलबर्गा जिले में एक जगह बच्चों को सीने और गले तक जमीन में गाड़ा जा रहा है। लोगों का मानना है कि इससे बच्चों को बीमारी नहीं होती। बनारस के एक मंदिर में तो बकैयां चलने वाले बच्चों को खौलते दूध से नहलाया जा रहा था। और दुर्भाग्य यह कि समाज से लेकर सरकार तक को इसमें कहीं कोई बुराई नज़र नहीं आई। ड्यूटी पर तैनात पुलिस वाले श्रद्धा से सर झुकाए इन क्रूरताओं को होते देखते रहे, उनके मन में कोई मलाल नहीं था बल्कि वे धन्य हो रहे थे कि उन्होंने दैविक चमत्कार का साक्षात्कार किया। आस्था के नाम पर इन क्रूरताओं को राजनेता और राजनीतिक दल भी शह देते हैं। हमारे राजनेता आस्था की ऐसी गुलामी के खिलाफ आवाज़ बुलंद करने के बजाय स्वयं ही आस्था के ऐसे मेले में पहुंच कर उसे वैधता प्रदान करते हैं। हमारा संविधान भले ही लोगों में वैज्ञानिक चेतना पैदा करना नागरिकों के मूल कर्तव्यों में शुमार करता हो लेकिन सच्चाई यही है कि आस्था के नाम पर हर जगह वैज्ञानिक चेतना को कुंद करने का प्रयास किया जाता है। इतना ही नहीं, यदि कोई आस्था पर उंगली उठाता है या सवाल खड़े करता है, तो उसे तुरंत एक अपराधी बना दिया जाता है। आस्थावानों की भीड़ उसके साथ एक अपराधी जैसा व्यवहार करने लगती है। सरकार और प्रशासन भी इन आस्थावानों के खिलाफ जाने से कतराती है और इस तरह आस्था का नंगा खेल जारी रहता है।

जब बच्चों को क्रूर आस्था के हवाले किया जा रहा था तो वे चिल्ला-चिल्लाकर रो रहे थे। उनके रुदन में उनकी बेबसी और लाचारी साफ-साफ नज़र आ रही थी जो एक साथ करुणा और गुस्सा पैदा कर रही थी लेकिन आश्चर्य कि जनसमूह से लेकर उन बच्चों के माता-पिता तक को बच्चों की पीड़ा, बेबसी और यहां तक की जान की परवाह नहीं थी, उल्टे वे काफी प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। पुलिस-प्रशासन का कहना है कि यह तो आस्था का मामला है, इसमें प्रशासन कैसे दखल दे सकता है। सवाल है कि आस्था के नाम पर बच्चों के साथ किए जा रहे इन बेपनाह अत्याचारों के खिलाफ कोई कानून है कि नहीं? और अगर है, जो कि है, तो फिर पुलिस और प्रशासन कैसे कह सकते हैं कि वे आस्था में दखल नहीं दे सकते। ऐसा कहने वाले पुलिस अधिकारी को तो अविलंब निलंबित कर दिया जाना चाहिए। आखिर हमारे देश के संविधान और कानून ने बच्चों को अनेक अधिकार प्रदान कर रखे हैं, जिसका उल्लंघन सजा

को निमित्तित करता है। दुधमुहे बच्चों के कोमल त्वचा पर खौलता दूध डालने पर उनकी क्या हालत होती होगी, इसका हम महज अंदाज़ा ही लगा सकते हैं। ऐसे में यह सवाल मौजूं हो जाता है कि आखिर क्या कारण है कि बच्चों के माता-पिता भी अपने मासूमों पर अत्याचार और क्रूरता होते देखकर विचलित नहीं होते? दरअसल, इसके पीछे सामूहिक विश्वास का मनोविज्ञान काम करता है। इस मनोविज्ञान के लिए किसी ठोस प्रमाण या सबूत की ज़रूरत नहीं होती, बल्कि किसी का कहना ही काफी हो सकता है। उदाहरण के लिए घुटने के बल चलने वाले बच्चे पर खौलता दूध डालने से बच्चे को कौन सा लाभ मिलेगा, इसके बारे में कोई यकीन के साथ कुछ भी नहीं कह सकता। यकीन के साथ तो बस इतना ही कहा जा सकता है कि यह बच्चों पर अमानवीय अत्याचार है और अब्बल दर्जे की क्रूरता भी। लेकिन आस्था का साम्राज्य तो कनफुसकी के जोर से चलता है, जिसके लिए न तो किसी प्रमाण की आवश्यकता होती है और न किसी सत्यापन की। कल्पित भय और कल्पित लाभ हमारे विवेक को कुंद कर देते हैं, जिसके चलते सामूहिक विवेक सामूहिक उन्माद में बदल जाता है और इस उन्माद में क्रूरता भी पवित्र और कल्याणकारी कार्य नज़र आने लगती है। जिस तरह उन्माद में दंगा करने वालों को किसी की जान लेने के बावजूद कोई ग्लानी नहीं होती क्योंकि उसे समाज विशेष का समर्थन प्राप्त होता है, उसी तरह आस्था के नाम पर होने वाली इन क्रूरताओं से लोग निरपेक्ष रहते हैं।

यहां इस बात को रेखांकित करना प्रासंगिक होगा कि धर्म, आस्था और चमत्कार का चक्कर ही अंधविश्वास को बढ़ावा देता है। इसके चक्कर में न सिर्फ अनपढ़ या कम पढ़े-लिखे लोग बल्कि अच्छे-खासे शिक्षित लोग भी पड़ जाते हैं। आस्था का आधार वास्तव में चमत्कार की प्रत्याशा ही होता है। अपने दुखों, कष्टों, व्याधियों और परेशानियों से निजात पाने के लिए लोग किसी चमत्कार की उम्मीद में ही आस्थाओं के गुलाम बनते जाते हैं। जहां तक स्वयं आस्था का सवाल है, तो वह धर्म से ही पैदा होता है। दुनिया के सभी धर्मों की अपनी-अपनी धार्मिक आस्थाएं होती हैं, जिसे स्वीकार करने के बाद ही कोई किसी धर्म में प्रवेश पा सकता है। ये आस्थाएं विवेक का सर्वथा निषेध करती हैं, क्योंकि उस पर सवाल नहीं खड़े किए जा सकते। धर्म ही हमें सबसे पहले विश्वास और आस्था का पाठ पढ़ाता है। उस पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। कोई भी धर्म और उसके अनुयायी यह बर्दाश्त नहीं कर सकते कि उनकी आस्था को तर्क और विवेक की कसौटी पर कसा जाए। इसलिए मुझे लगता है कि आस्था केवल धार्मिक मान्यताएं ही हैं। चूंकि इन मान्यताओं

के पीछे परोक्ष या प्रत्यक्ष लाभ की प्रत्याशा भी शामिल होती है, इसलिए अधिकांश लोग आस्था के पैरवीकार बन जाते हैं। मैं अपने अनुभव से जानता हूँ कि कतिपय ऐसे लोग भी आस्था के खिलाफ जाने की हिम्मत नहीं जुटा पाते क्योंकि उन्हें लगता है इससे कहीं उनका कोई अहित न हो जाए। ऐसे लोगों के दैनिक जीवन में आस्था का कोई खास महत्व नहीं होता और कई बार वे आस्था को कोसते भी नज़र आते हैं, लेकिन जब बात इस पार या उस पार वाली पैदा हो जाती है, तब वे आस्था का ही चयन करते हैं।

यही कारण है कि हमारे देश में प्रतिदिन अनगिनत बाबा और तांत्रिक पैदा होते रहते हैं, जो दावा करते हैं कि वे लोगों के कष्ट दूर कर देंगे। यह अलग बात है कि इन तमाम बाबाओं, ढोंगियों और तांत्रिकों की फौज लोगों की समस्याएं दूर करने में सर्वथा नाकाम ही रही है, लेकिन आस्था के गुलामों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यदि बाबाओं के टोटके कारगर नहीं होते तब भी उन्हें लगता है कि उनकी आस्था में ही कोई कमी रह गई होगी, जिससे उन्हें सफलता नहीं मिल पा रही है। अकारण नहीं कि तरह-तरह के बाबाओं की पौध कुकुरमुते की तरह देश के हर गली-कूचे में उगती जा रही है। वास्तव में यह एक व्यापार है, जिसमें आस्था समिधा का काम करती है। सरकार और प्रशासन भी इसके खिलाफ जाने की आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि इससे होने वाले लाभ में उसके संचालकों का भी हिस्सा होता है। जहां तक मीडिया की बात है तो वह भी प्रकारांतर से आस्था को वाजिब ठहराने का ही काम करता है। और करे भी क्यों नहीं, इसमें उसका भी तो हिस्सा होता है। बाबाओं की महिमा का गुणगान करते हमारे टीवी चैनल कभी थकते नहीं, क्योंकि इससे उनकी टीआरपी बढ़ती है। अब तो वे बाकायदा पैसे लेकर बाबाओं के कार्यक्रम प्रसारित करते हैं। नए-नए प्रसिद्ध हुए निर्मल बाबा के प्रसंग में तो यह बात साबित भी हो चुकी है। आजकल प्रसिद्धि पाने के लिए इलेक्ट्रॉनिक मीडिया सबसे बड़ा मंच है। टीवी चैनलों पर प्रसारित किए जाने वाले कार्यक्रमों को लोग सत्य समझने की भूल कर बैठते हैं और उनकी इसी भूल का बाबाओं और मीडिया द्वारा शोषण किया जाता है और झूठ के एक साम्राज्य का निर्माण किया जाता है, जहां विवेक दफन हो जाता है। मीडिया को समझना चाहिए कि उसका उद्भव गलत को गलत और सही को सही बताने के लिए ही हुआ था। इसे लोकतंत्र का चौथा खंभा कहा जाता है। तीन खंभे-कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका की स्थापना सरकार द्वारा की जाती है, जबकि चौथा खंभा यानी मीडिया की स्थापना लोगों की पहल का नतीजा है। जाहिर है कि लोगों का काम महज तीन खंभों से नहीं चल सकता था, इसलिए चौथे खंभे की ज़रूरत पड़ी। ऐसे में यह दुखद है कि मीडिया भी सरकार के उक्त तीन अंगों की तरह ही काम कर रही है, जहां जन सरोकार तिरोहित होते जा रहे हैं। मीडिया बाबाओं की करतूतों को बेनकाब करने के बदले उनकी लोकप्रियता बढ़ाने का काम कर रहा है। हमारी फिल्मों भी आस्था के साम्राज्य को मजबूत करती हैं। हमारी फिल्मों में यह आम रूप से देखने को मिलता है कि जब किसी की ज़िंदगी बचाने में डॉक्टर भी नाकाम होने लगता

है तो अचानक उसके चाहने वाले किसी मंदिर, मस्जिद, चर्च या गिरजाघर में पहुंच जाते हैं और देखते ही देखते मृतप्राय, यहां तक कि मृतक भी जी उठता है। आस्था और चमत्कार का यह खेल दर्शकों को विस्मित कर देता है और उसके दिल में आस्था घर करने लगती है और जिसके दिल में पहले से ही घर कर चुकी है, वह मजबूत हो जाती है।

आस्था का सबसे वीभत्स, विद्रूप और क्रूर स्वरूप तब देखने को मिलता है, जब इसकी रक्षा में तालिबानी तत्व सक्रिय हो उठते हैं, जैसे यह कहना ज्यादा सही होगा कि वे तो हमेशा ही आस्थाओं की तलवार से विवेक का सर काटने को तैयार रहते हैं। जब तक आस्था वैयक्तिक रहती है, तब तक तो गनीमत है लेकिन जब इससे सामूहिकता जुड़ जाती है तो आस्था उदंड, अविवेकी, आक्रामक और असहिष्णु हो जाती है। लेकिन उसका यह असली चेहरा भीड़ में गुम हो जाता है और लोगों के साथ जुड़ने के कारण उसे एक तरह की सामाजिक मान्यता मिल जाती है और तब कोई भी उसके खिलाफ जाने से कतराने लगता है, क्योंकि आस्थावानों की सेना आस्था के विरोध में उठने वाली हर आवाज़ को गुम करने को तत्पर रहती है। आस्था की सबसे बड़ी परेशानी यह है कि वह बहुधा बुद्धि विरोधी होती है और सच से परे होती है। अकारण नहीं कि आस्थावानों की भृकुटी विवेक और विद्वता पर ही सबसे ज्यादा टेढ़ी होती है।

लेकिन सवाल तो यह है कि क्या आस्था के नाम पर मूर्खतापूर्ण क्रूरताओं को वाजिब ठहराया जा सकता है? कतई नहीं, बल्कि सच तो यह है कि हमें उसके खिलाफ खड़ा होना होगा। हम जानते हैं कि अतीत में हमारे देश में आस्था के नाम पर पशुबलि, नरबलि और सती प्रथा जैसी सामाजिक बुराइयां प्रचलित थीं। अगर आस्थावानों का वश चलता तो आज भी देश में सती प्रथा, बाल विवाह जैसी बुराइयां कायम रहतीं। जाहिर है कि आस्थाएं मिटती हैं, उन्हें मिटना होता है क्योंकि वे विवेक का प्रतिकार करती हैं। हमारे देश में सिर्फ आस्था को चोट पहुंचती है, विवेक को नहीं। आस्था के नाम पर हमारे विवेक को चाहे जितना रौंदा जाए, हमें ऐतराज जताने का अधिकार नहीं है, लेकिन आस्था के विरुद्ध कोई बात हुई नहीं कि आस्थावानों को चोट पहुंचने लगती है। अजीब तो यह है कि आस्था को चोट तभी पहुंचती है, जब तर्क की बात होती है, जबकि कुतर्क के वितान पर तनी आस्था हमारी तर्कशीलता और विवेक पर चाहे रांदा चलाती रहे मगर इससे हमें चोट महसूस नहीं करनी चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि आस्था का चरित्र बहुधा फासीवादी होता है। उसके आगे ज्ञान, विज्ञान और तर्क कोई मायने नहीं रखता। यही कारण है कि ऐसी आस्थाओं के खिलाफ हमें खड़ा होना होगा और उसका प्रतिकार करना होगा, अन्यथा हम आस्थाओं के गुलाम बनकर रह जाएंगे। अपने विवेक को हमें मुक्त करना ही होगा, क्योंकि उसी में मानव की मुक्ति है।

क्या 21वीं सदी में मिलेगी, कन्या भ्रूण हत्या से आजादी?

■ श्रीप्रकाश सिंह निमराजे

भारत के संविधान में प्रत्येक महिला और पुरुष को समान अधिकार, प्रतिष्ठा एवं अवसर प्रदान किया गया है। मगर खेद तो इस बात का है कि दो महिला दशक मना लेने और शिक्षण-प्रशिक्षण के अवसर जुटाये जाने और राजनैतिक क्षेत्रों में महिलाओं को हिस्सेदारी दिये जाने के हर संभव कोशिशों के बावजूद हमारे देश में महिलाओं की स्थिति दयनीय है। मैना, ग्राः, स्त्री, योधा, वामा, अबला, प्रमदा, दुहिता, आदि नामों से विभूषित किया गया है। स्त्री में इतने तथाकथित विश्लेषण सम्बन्धी पर्यायवाची शब्दों के माध्यम से उस समय की अकादमिक चेतना (पुरुषवादी) का पता चलता है। इस बीच फिर आ गया अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस। अब आप ही सोचिये, एक तरफ अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस तो दूसरी तरफ महिला शोषण, उत्पीड़न और बेहद क्रूरतम अत्याचारों का सिलसिला जारी है। प्रत्येक परिवार, समाज एवं राष्ट्र चाहे वह विकासशील हो अथवा विकसित, उसमें स्त्री तथा पुरुष दोनों की सहभागिता आवश्यक है, लेकिन भारत जैसे प्राचीन एवं सभ्यता वाले देश में जहाँ छोटी बच्ची को देवी के रूप में देखा जाता है, आज उसी देश में लिंगानुपात (स्त्री-पुरुष अनुपात) में कमी होना इस देश की सबसे बड़ी विडम्बना है। डेढ़ दशक में कन्या भ्रूण हत्या की समस्या कहीं अधिक गंभीर होकर उभरी है...?" अल्ट्रासाउण्ड परीक्षण से कन्या का संकेत मिलने पर गर्भस्थ भ्रूण हत्या कराना आम बात होती जा रही है। भारतीय पुरुष प्रधान समाज में लिंग आधारित भेदभाव मनुष्य समाज की अपनी करतूत है। वहीं अंधविश्वास और विज्ञान के दुरुपयोग ने लगभग डेढ़ दशकों में कन्या भ्रूण हत्या को प्रोत्साहित किया है परिणाम है घटता लिंगानुपात। कन्या भ्रूण हत्या नामक परिघटना का विस्तार पूरे सामाजिक फलक पर है। यह स्थिति समाज के लिये घातक है। यह शिक्षा, सम्पन्नता, नैतिकता, कानून, परंपरा, धर्म, शहरीकरण जैसी किसी भी सीमा को स्वीकार नहीं करती है। यहाँ यह उल्लेख करना और चिंता का विषय है कि गांवों की तुलना में शहरों में बेटियों का प्रतिशत लगातार कम होता जा रहा है। मेरे मतानुसार आज बच्चियों की दो तरह से हत्या की जा रही है।

1. परम्परागत तरीका जिसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।
2. वैज्ञानिक तरीके के फलस्वरूप तकनीकी का दुरुपयोग करते हुये भ्रूण हत्या।

इसमें कोई शक नहीं कि महिलायें वे धूरी हैं जिस पर परिवार का विकास टिका है, लेकिन समाज और घर परिवार में महिलाओं की भूमिका केवल पुरुषों की गुलामी और उनके द्वारा थोपे गये

निर्णयों का पालन करने तक सीमित है। महिलायें अपने स्तर पर न तो कोई निर्णय ले सकती हैं और न ही कोई काम पुरुषों की सहमति के बगैर कर सकती हैं। आज भी परिवार में बेटियों को बोझ समझा जाता है इसलिये एक ओर जहाँ बेटे के जन्म पर परिवार में मायूसी छा जाती है वहीं दूसरी ओर भारत के अधिकांश भागों में बेटे के जन्म की खुशी में खुशियाँ मनायी जाती हैं। राजस्थान में समाज को थाली बजाकर सूचना दी जाती है। महाराष्ट्र में सवर्ण हिन्दू परिवारों में लड़का पैदा होने पर पेड़े बाँटे जाने आवश्यक हैं अन्य प्रदेशों में भी अलग-अलग तरह से ऐसे ही रिवाज हैं। इन कुप्रथाओं के पीछे निहित सामाजिक नियमों का आधार पुरुष को परिवार की रोजी-रोटी जुटाने वाला माना जाता है। लड़के को कुलदीपक समझे जाने का एक कारण यह भी है कि पितृवादी समाज में यह वंश परंपरा कायम रखता है। आज भी अधिकांश दंपति की पहली पसंद बेटा ही है। चूँकि लड़के पर परिवार की आस्थायें टिकी हैं, इसलिये पारिवारिक संसाधन उसी को प्राप्त होते हैं। नन्हें-बच्चों को स्तनपान कराने की प्रथाओं में भी लड़कों के प्रति झुकाव साफ नज़र आता है। खान-पान के मामले में लड़कियों की उपेक्षा की जाती है। अधिकांश भारतीय परिवारों में औरतें आदमियों द्वारा भोजन किये जाने के बाद ही भोजन करती हैं। गरीब परिवारों में औरतों को एक सीमित मात्रा में ही भोजन मिल पाता है। लड़कों को ज्यादा समय तक स्तनपान कराया जाता है। लड़का-लड़की में भेदभाव का असर महिलाओं के स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। परिवार में लड़कों को ज्यादा प्यार, इज्जत, अच्छा भोजन मिलता है साथ ही उनके स्वास्थ्य की अच्छी देखभाल की जाती है जबकि लड़कियों के स्वास्थ्य पर कम ध्यान दिया जाता है। उन्हें कुपोषण व बीमारियों के चंगुल में फँसा छोड़ दिया जाता है। निम्नलिखित आँकड़े मध्यप्रदेश की वास्तविक स्थिति को दर्शाते हैं :

सूचक	मध्यप्रदेश	राष्ट्रीय स्तर
शिशु मृत्युदर (प्रति हजार)	70	53
मातृ मृत्यु अनुपात (प्रति लाख जन्म)	335	254
कुपोषण (3 वर्ष से कम उम्र के बच्चे)	60.3	45.9
लिंगानुपात (प्रति हजार पुरुष)	919	933
जन्मदर (प्रतिशत में)	28	22.8
मृत्युदर (प्रतिशत में)	8.6	7.4

एक सर्वेक्षण के अनुसार मध्यप्रदेश विकास, शिक्षा, स्वच्छ प्रशासन जैसे बुनियादी मामलों में देश में 20वें स्थान पर और

स्वास्थ्य की दृष्टि से 18 वें स्थान पर हैं। यूएनडीपी-2011 की रिपोर्ट के मुताबिक विकास सूचकांक में भी मध्यप्रदेश काफी पीछे है। किसी भी प्रदेश का विकास जब आँका जाता है तब खासतौर पर शिक्षा, स्वास्थ्य, लोगों की औसत आयु, प्रति व्यक्ति आय की स्थिति इसका आधार होते हैं? इस दृष्टि से मध्यप्रदेश का विकास सूचकांक काफी पीछे है। प्रदेश के आँकड़े यह दर्शाते हैं कि स्वास्थ्य की स्थिति तो पूरे देश में सबसे अधिक खराब है। नेशनल फैमिली हेल्थ सर्वे (एन.एफ.एच.एस.-3) के मुताबिक बाकी राज्यों की तुलना में यहाँ 5 साल तक के 60 फीसदी बच्चे सामान्य से कम वजन के अन्डर वेट हैं जबकि 11वीं पंचवर्षीय योजना के अनुच्छेद 4.1.1 की मानें तो प्रदेश में तीन साल तक के 60.3 फीसदी बच्चे कुपोषित हैं। इसके अलावा (एन.एफ.एच.एस.-3) के मुताबिक 5 से अधिक साल के 74.1 फीसदी बच्चे खून की कमी अर्थात् एनीमिया से पीड़ित हैं। वहीं सेम्पल रजिस्ट्रेशन सिस्टम (एस.आर.एस.) द्वारा जनवरी 2011 में जारी बुलेटिन (वोल्यूम -45 नं0 1) के मुताबिक प्रदेश में प्रति हजार नवजात बच्चों में 67 की मौत हो जाती है यानि यहाँ नवजात की मृत्युदर 60.7 फीसदी है जो देशभर की नवजात मृत्युदर 50 से ही नहीं अन्य सभी राज्यों से भी बहुत ज्यादा है। *मुझे एक कार्यशाला में बतौर मुख्य वक्ता के रूप में मुखातिब होने का अवसर मिला तो लोगों का सीधा सवाल था कि औरत ही औरत की दुश्मन है औरत ही औरत को बाध्य करती है और लिंग परीक्षण कराती है और बेटी को जन्म लेने से रोकती है* -ऐसी अभिव्यक्ति से मुझे ऐसा लगता है कि वे संभवतः समस्या के लक्षण को ही कारण मान बैठे हैं। यह संभव है कि एक महिला द्वारा किसी दूसरी महिला को लिंग परीक्षण के लिये कहा जाये अथवा बेटी को जन्म से रोकने के लिये कहा जाये। लेकिन उसकी जड़ में विद्यमान कारण को संभवतः एक महिला ही बेहतर अभिव्यक्त कर सकती है। हमारे समाज में स्त्री को जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न भूमिकाओं मात्र में ही सीमित कर दिया जाता है, और उन भूमिकाओं के निर्वहन में भी पग-पग पर पुरुष प्रधान समाज द्वारा उसे जो पीड़ा पहुँचाई जाती है यह मुमकिन है उस लगातार पीड़ा के कारण महिला के द्वारा ऐसा आग्रह किया जाता हो। मेरे मत में समस्या के मूल में औरत का स्टेटस पुरुष के बराबर नहीं होना है। यह तराजू के उन पलड़ों की तरह है जिसमें काफी असमानता है। इसलिये जब तक किसी भी समाज में स्त्री अथवा पुरुष रूपी दो पलड़ों को बराबर नहीं कर दिया जाता है, किसी को भी यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वे उन पलड़ों में दिखाई दिये जाने वाले फर्क के आधार पर ऐसे निष्कर्ष निकालें। मुझे डर है कि ऐसा कोई भी प्रयास महिला के स्टेटस को और भी कम करेगा और लिंग परीक्षण आधारित कन्या भ्रूण हत्या जैसी समस्या को भी बहुत बढ़ावा देगा। मैंने बहुत से परिवारों में देखा है कि

बहुत स्नेह के साथ अपनी बेटी को बेटे के रूप संबोधित करते हैं। *बेटी को बेटे के रूप में संबोधन ही इस बात का प्रमाण है कि हमारे जेहन में यह एहसास है कि बेटी बेटे से कम है।* यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो कि हमारे समाज के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करती है जिसमें हम पुरुष को स्त्री से श्रेष्ठ मानते हैं एवं उसके अनुरूप आचरण करने की कोशिश करते हैं। लड़की को लगातार सिखाया जाता है कि वह अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती, उसकी रक्षा उसके पिता, भाई या किसी पुरुष द्वारा की जानी है। स्त्री के मनोवज्ञान में पुरुष निर्भरता कूट-कूट कर भर दी जाती है-रक्षाबंधन, भैयादूज, करवाचौथ, छठ जैसे त्योहारों या पति-परमेश्वर, मर्दानगी जैसे मूल्यों के महिमा मंडन से यही हासिल होता है। एक तरफ लड़का ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है सांसारिक विवेक भी ग्रहण करता है क्योंकि उसे हर विषय पर स्वयं को व्यक्त करने और तर्क करने की छूट होती है, पर दूसरी तरफ लड़की को तमाम जरूरी विषयों पर चुप रखने से उसमें भले बुरे की पहचान करने की क्षमता का उसी रूप से विकास नहीं हो पाता। *बेटी की विदाई के समय बहुत से गीत ऐसे हैं जिनमे स्त्री-जीवन की पीड़ाएं अपने ढंग से व्यक्त होती हैं।*

पिछले दो दशक के आंकड़ों पर नज़र डालें तो जन्म के समय लिंग अनुपात में अंतर बेहद चिंताजनक है। भारत में पिछले तीन दशक में एक करोड़ बीस लाख बेटियों की भ्रूण हत्या हुई है या यों कहें कि बच्चियों को गर्भ में लिंग का पता लगाकर मार दिया गया। सेंटर फॉर ग्लोबल हेल्थ रिसर्च के इस साल कराये गये सर्वेक्षण में यह तथ्य सामने आया। इसकी पुष्टि संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार समिति की अक्टूबर 2010 की रिपोर्ट में भी हुई है। यूनाटेड नेशन्स पॉपुलेशन फंड (यूएनएफपीए) की एक रिपोर्ट के मुताबिक दो दशकों में भारत की आबादी से लगभग 5 करोड़ से अधिक लड़कियाँ गायब हो चुकी हैं। भारत में साल 2011 की जनगणना से संकेत मिलता है कि छह साल तक के बच्चों के अनुपात में लड़कियों की संख्या में लगातार कमी दिखाई दे रही है। प्रति हजार लड़कों में लड़कियों की संख्या 914 रह गई है। सर्वेक्षण के मुताबिक देश के कई बड़े राज्यों मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा आदि में प्रतिशत 914 से भी कम है। पंजाब और हरियाणा में यह आँकड़ा क्रमश 846 और 830 है। मध्यप्रदेश में वर्ष 2011 के अन्तरिम आंकड़ों के अनुसार राज्य में शून्य से छः वर्ष की आयु के प्रति बालकों पर 912 बालिकायें हैं जबकि 10 वर्ष पहले हालात बेहतर थे। 2001 की जनगणना में यह अनुपात 1000/932 था। इस तरह 10 सालों में बालिकाओं की संख्या में 20 प्रति हजार की गिरावट आयी है। वर्ष 2001 में मध्यप्रदेश का लिंग अनुपात 932 था लेकिन 2011 में यह घटकर 912 ही रह गया। **ग्वालियर एवं चम्बल संभाग में 100 बेटों पर बेटियाँ :**

वर्ष	ग्वालियर	श्योपुर	मुरैना	भिन्ड	दतिया	शिवपुरी	गुना	अशोक नगर
1991	831	830	808	816	846	849	877	874
2001	848	895	822	929	856	859	890	879
2011	862	902	829	838	875	877	910	900

अतः वर्तमान में लिंग अनुपात के आंकड़े यही बयान कर रहे हैं कि बेटियां अभी भी कोख में ही मारी जा रही हैं। दिसम्बर माह में नई दिल्ली से आई, भारत सरकार की नेशनल इंस्पेक्शन एण्ड मॉनीटरिंग कमेटी को मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में छापामार कार्यवाही के दौरान पता चला कि निशा डायग्नोसिस सेंटर बुधवारा, डॉक्टर चौकसे सोनोग्राफी सेण्टर बुधवारा, अनुश्री हॉस्पिटल अरेरा कॉलोनी भोपाल, में छापामार टीम की कार्यवाही के बाद कई तरह की अनियमितता सामने आई। इसी तरह की अनियमितता इसी प्रदेश के ग्वालियर महानगर में देखने को मिली जिसका उल्लेख करना ज़रूरी है, इसी कमेटी के निरीक्षण के दौरान माहेश्वरी नर्सिंग होम में अल्ट्रा सोनोग्राफी का कोई दस्तावेज ही नहीं था। फॉर्मों पर चिकित्सक के हस्ताक्षर नहीं थे। मरीज किस चिकित्सक द्वारा भेजा गया और अल्ट्रा साउण्ड किस कारण से किया गया, इसका भी कोई उल्लेख नहीं मिला। एक अल्ट्रासाउण्ड मशीन संस्थान में मौजूद नहीं मिली। कमोवेश ऐसी ही स्थिति परख अल्ट्रा सोनोग्राफी सेन्टर की थी। यहां चार अल्ट्रासाउण्ड मशीनें संचालित मिलीं। इनमें से एक मशीन का पंजीयन नहीं था। मरीजों की जांच संबंधी रिपोर्ट तथा अन्य दस्तावेज भी व्यवस्थित नहीं थे। इसी प्रकार त्रिवेदी नर्सिंग होम और किलकारी नर्सिंग होम में भी रिकॉर्ड व्यवस्थित नहीं मिला। निरामय हॉस्पिटल में पीसी-पीएनडीटी एक्ट के फॉर्म अधूरे और रिकॉर्ड मिसमैच था तथा लैब बिना अनुमति के संचालित पाई गई। इससे यही आशंका बलवती होती है कि हर शहर में चोरी छिपे कोख में ही हत्या की जा रही है चाहे वह ग्वालियर हो या अन्य प्रदेश का कोई शहर ...यदि सभी जगह इसी तरह से निरीक्षण हो तो ऐसे अनेक शहर होंगे! गोपाल किरन समाज सेवी संस्था ने वर्ष 2001 के आंकड़ों का विश्लेषण किया तो पता चलता है कि ग्वालियर के मुरार विकास खंड के ग्राम सुजहार में 565, अरोरा 571, राहुली 601, सरसपुरा 614, भटपुरा सानी 618, ककरारी 629, डबका 641, छोदी 670, तुर्कपुरा 671, खेडा 680, जमरोहा (बेसली नदी का उद्गम स्थल) 687, डंगोरा 690 लिंगानुपात हैं। इतना ही नहीं राज्य के डेढ़ दर्जन जिले ऐसे हैं जहां शिशु लिंगानुपात चिंताजनक स्तर तक पहुंच गया है। सबसे बुरा हाल भिन्ड जिले का है। यहां के खरोआ गांव में बेटे की हत्या एक परिवार द्वारा कर दी गई जिसकी सूचना सरपंच ने दी तो उसे हत्या की धमकी मिली। जून 11 में भिन्ड जिले के खरोआ गांव में हुई नवजात बालिका की हत्या का मामला ठंडा भी नहीं हो पाया कि गोहद के श्यामपुरा ग्राम पंचायत के पलिया गांव में 3 दिसम्बर को जनमी बालिका

की हत्या होने की शिकायत पुलिस अधीक्षक को गांव के एक ग्रामीण ने गोपनीय तरीके से दी। यह बालिका निगोतिया नर्सिंग होम में श्री दशरथ सिंह गूर्जर के यहां जनमी थी। नर्सिंग होम से डिस्चार्ज करवाकर उसे घर लाया गया उसके बाद बालिका को नहीं देखा गया।

राज एक्सप्रेस ग्वालियर दिनांक 11 नवम्बर 2011 को प्रकाशित एक खबर “मरती लाडली सोता प्रशासन” में जनवरी से नवम्बर वर्ष 2011 में ग्वालियर में मरती या छोड़ दी गई लाड़लियों का विस्तृत विवरण दिया गया है। जिसमें बताया गया है कि दिनांक 8 जनवरी, रामाजी का पुरा में, 9 फरवरी, झांसर रोड थानांतर्गत स्थित नाले में, 5 जून, लख्मण तलेया, 21 जून, एनसीसी कॉलेज के पास, 9 सितम्बर, छप्परवाला पुल के पास, 17 अक्टूबर, छप्परवाला पुल स्वर्ण रेखा नाले में, नवम्बर माह की दिनांक 7 नवम्बर आर्य नगर गली न.1 में, 8 नवम्बर सोफिया महाविद्यालय के पास कटेनर में नवजात मृत मिली, 17 नवम्बर को कंपू क्षेत्र में, 27 नवम्बर माह को विश्वविद्यालय थाना क्षेत्र में स्थित एक छात्रवास के बाहर, 26 दिसम्बर को बहोडापुर थाना क्षेत्र पंचवती कॉलोनी में एक भ्रूण फिर बरामद हुआ। भ्रूण हत्या को छोड़कर अन्य तरह से बालिका को मारने एवं उससे मुक्ति के तरीके भी देखने एवं सुनने को मिल रहे हैं। दिनांक 15 जुलाई को ढोली बुआ पुल पर रहने वाली महिला ने दो बच्चियों को जन्म दिया इसके बाद कमला राजा हास्पिटल (केआरएच) कम्पू में भर्ती कराकर माता-पिता गायब हो गये, इलाज के दौरान 27 जुलाई को इनकी मौत हो गई। 7 सितम्बर, घाटीगांव थानान्तर्गत छोदा गांव में एक दंपति ने बच्ची के मुंह में कपडा ठूस दिया और बाद में गला दबाकर मार डाला। 22 नवम्बर को मुरार स्थित एक निजी अस्पताल में एक महिला नवजात कन्या को अस्पताल में छोड़कर भाग गई। 10 दिसम्बर को कंपू थाना क्षेत्र में ग्वालियर पोटरिज के पास एक नवजात बालिका पड़ी मिली। कोख में कल्ल का सिलसिला थमने का नाम नहीं ले रहा है। मूंदडा नर्सिंग होम में भ्रूण हत्या की सूचना मिलने पर स्वास्थ्य विभाग की टीम जांच करने की जगह संचालकों के साथ चाय-नाश्ते में मशगूल हो गई। उपनगर ग्वालियर में निदान होम्यो क्लीनिक पर गर्भपात की सूचना मिलने पर सीएमएचओ, सी.डी.शर्मा को मौके पर भेजा गया, साथ में एडीएम भी गये लेकिन जब मामला दर्ज करने की बारी आई तो सीएमएचओ ने हाथ खड़े कर दिये बाद में सिविल सर्जन को मामला दर्ज करना पड़ा। जहां नवजातों के शव मिले हैं उसके आस-पास के लगभग दो सौ मीटर के दायरे में स्थित नर्सिंग होम और मोहल्लेवासियों से पूछताछ होनी चाहिये, वह तक नहीं होती जिससे यह पता चल सकता है कि कहां सर्जरी या डिलीवरी हुई है? बेटे अभियान के बीच नई दुनिया 25 नवम्बर 2011 पृष्ठ 1 पर छपी खबर “बेटे जन्मी तो पत्नी को घसीटकर ले गया” ग्राम

शेष पृष्ठ 18 पर

एक लड़की... एक गठरी

■ उत्पला शुक्ला

उस परिवार में उत्सव का सा माहौल है। दूर-पास के रिश्तेदार जमा हैं। मोहल्ले की औरतें-लड़कियां भी अपनी-अपनी टोलियों में निहार रही हैं उत्सुकता से उस 'गठरी' को। दरवाजे पर खड़ी गाड़ी की सजावट के फूल सूख गए हैं (गर्मी भी तो कितनी है...) उसी गाड़ी में बैठी है (या धरी है) वो लड़की... नहीं लाल गठरी। उसे हवा न छुए, धूप न लगे, रास्ते न दिखे, दिशा न समझ में आए इसका पूरा बंदोबस्त है। इस गर्म दुपहरी में अपनी थकी क्लांत आंखों में बहुत सारे सपने, डर, आशंकाएं समेटे हाथ भर के घूँघट वाली इस लड़की को यहां 'लाकर' खड़ा कर दिया गया (आज से ये घर तुम्हारा, तुम्हारा 'अपना घर' वही जिसके सपने बचपन से काजल की तरह तुम्हारी आंखों में आँजे जाते रहे)

'लाकर खड़ा कर दिया गया', 'शादी तय कर दी गई' एक आम भारतीय विशेषकर मध्यवर्गीय परिवार में चाहे वह शहरी हो या ग्रामीण लड़कियों के लिए चीजें तय की जाती हैं। यह तय करना समाज की परिपाटी के हिसाब से भी होता है और व्यक्तिगत, पारिवारिक परिपाटी के हिसाब से भी। यह तय करना कि वह कैसे चलेगी, उठेगी, बैठेगी? कि वह क्या और कितना खाएगी? -कि वह क्या पहनेगी? -कि वह क्या पढ़ेगी और कहां तक पढ़ेगी? कि वह कहां जाएगी, कहां नहीं जाएगी?

इस तय करने में दृश्य-अदृश्य सभी पक्ष हिस्सा लेते हैं यानि यहां सभी पक्षकार हैं। वह परिवार, उस परिवार के सगे-संबंधी, जहां वह परिवार रह रहा है वह समाज, स्कूल और वहां के शिक्षक, किताबें जिनसे उसका सामना होता है, गाने, कहानियां, सिनेमा और तो और राज्य-व्यवस्था और कानून भी सभी इसके सक्रिय पक्षधर हैं। ये सब मिलकर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से लड़की, उसकी इच्छाएं, सोच, सपने, पसंद-नापसंद को गढ़ते हैं। राज्य भी इसमें मौके-ब-मौके हस्तक्षेप करता है। गढ़ने वाली इन सारी ताकतों का एक बड़ा ज़रूरी और आक्रामक पक्षकार है-'बाज़ार' जो 'मुंहासों से आज़ादी', 'बाल लंबे या छोटे करने की आज़ादी' जैसे पैकेज्ड आज़ादियां थमाकर औरतों की अस्मिता और स्वतंत्रता के 'नैनो' संस्करण बेच रहा है। बाज़ार द्वारा परोसी गई ये छवियां बाल झटकने, गले के गहरे काट को औरतों के आत्मविश्वास का पर्याय बताती हैं।

इन तत्वों की विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं से गढ़ी जाती है एक लड़की। लड़की, जो 'गठरी' बनने को सहर्ष तैयार दिखती है। लड़कियों की ज़िंदगी के पूर्वार्द्ध का ताना-बाना ही इस विवाह संस्कार से रचा जाता है। शादी के सपने, शादी का डर, शादी से जुड़ी आज़ादी, शादी से जुड़े विशेषाधिकार, शादी से

जुड़ा अधिकार-भाव वगैरह-वगैरह।

एक आम भारतीय परिवार में शादी के सपने, धमकियां, डर बच्चियों और किशोरियों को पालतू बनाने में इस्तेमाल किये जाते हैं। धीरे-धीरे परिवार और समाज अपने विभिन्न स्वरूपों से यह विचार बिठा पाने में सफल हो जाते हैं कि 'शादी' और 'शादीशुदा ज़िंदगी' में उनका परफॉर्मेंस ही उनकी पूरी ज़िंदगी की कसौटी है और अभी जो जीवन वे जी रही हैं वह उसका रिहर्सल है। वे जितने धैर्य और निपुणता के साथ अपनी भूमिका का रिहर्सल करेंगी आगे चलकर उन्हें उतनी ही वाहवाही मिलेगी। बेटियों की छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी इच्छाएं रेहन रख दी जाती हैं इस पवित्र, गौरवमय, गरिमाय विवाह संस्था के पास।

'इतना पढ़ा दिया अब आगे ससुराल वाले पढ़ाएं तो पढ़ लेना', 'शादी हो जाए तो पति के साथ घूमना' यहां तक कि बाज दफा घर के रख-रखाव में कोई बदलाव करे तो भी ये जुमला थमा दिया जाता है 'अपने घर में करना' (हाँ कई बार ये बात मज़ाक के तौर पर भी कही जाती है परिचितों और रिश्तेदारों द्वारा पर ये मज़ाक भी लड़कियों की शिखिसयतों में कुछ जोड़ता, घटाता तो है ही) ऐसे ही जाने कितने दिलासों, धमकियों से रचने लगती हैं लड़कियां। इन सबको जोड़-जाड़ कर एक चमकीला सपना। इन सपनों की कैफियत हर युग में बदलती है। निश्चित तौर पर आज इन सपनों में कैरियर, आज़ादी बाहर की दुनिया में कदम रखना और बराबरी के रंग घुले हैं, पर...?

पर क्या ये रिश्ते आज़ादी देते हैं? चलिये, इसे भी एक तरफ रख दें कि ये औरतें बचपन से जिन्हें शादी का एक काल्पनिक झुनझुना थमा दिया जाता है वे इस रिश्ते में जाने के बाद ज़िंदगी में आगे बढ़ने, मज़बूती से पांव जमा कर खड़ा होने जैसे अपने सपनों को सच कर पाती हैं या नहीं? चलिये, इसे भी छोड़िये, सवाल अगर सिर्फ यही हो कि ये औरतें जिनका रूपांतरण 'बहू' में होता है, उन्हें सहज मानवीय अधिकार, गरिमा भी हासिल है या नहीं? या उनके सारे अधिकार 'पति के बिस्तर' से 'पति की रसोई' तक सिमट जाते हैं?

एक औसत निम्नवर्गीय परिवार में बहुओं के लिए कई मर्यादाएं होती हैं। एक मर्यादा है उनका चेहरा न दिखने की, कहीं बाहर न आने-जाने की। वे सिर्फ मायके जा सकती हैं वो भी अपने मन से या अकेले नहीं। (इतनी कमअक्ल और लाचार प्राणी ये कर भी तो नहीं सकती) और फिर शुरू होता है 'शादी के बाद मिलने वाली कथित आज़ादी के सपने की कलई उतरना...' ये तो ज़्यादा दमघोंटू और कैदखाना साबित हुई। एक घर की परिधि में घूमते रहना साल-दर-साल...बीच-बीच में ब्रेक

तब जब मायके जाना हो या कभी-कभार डॉक्टर के यहां।

ऊपर जिस परिवार का जिक्र किया था मैंने उस परिवार की बड़ी बहू (जो अब दो बेटों की मां भी हैं) भी अपने दरवाजे पर कभी देखी नहीं गई। कभी उसे किसी ने सब्जी खरीदते, चूड़ी पहनते, फेरीवाले से प्लास्टिक के डब्बों पर मोलभाव करते नहीं देखा। शादी के 10-12 साल बाद भी घर का दरवाजा, दरवाजे से लगी गली उसके लिए निषिद्ध क्षेत्र है। वो औरत इतने सालों से उस घर की चारदीवारी के अंदर क्या करती होगी-खाना बनाना, कपड़े धोना, बर्तन मांजना, घर की साफ-सफाई, अपने बच्चों की देखभाल, फिर खाना बनाना, कपड़े धोना, बर्तन मांजना... और ऐसे ही। उसके जीवन में आखिरी बार कुछ नया, कुछ रोचक कब घटा होगा? घर नाम के उसके इस कैदखाने का यह दमघोंटू रूटीन रोज उसे सिझाता है। यह रूटीन उसके ऊपर जाले बुनता चला जाता है।

मुझे भरोसा है कि 10-12 सालों से यहां रहने के बावजूद

वह महिला अपने मोहल्ले के रास्ते भी नहीं पहचानती, नुककड़ की दुकानें तक नहीं जानती। पर एक तथाकथित उच्चकुलीन परिवार की बहू होने की मर्यादाएं उसे कंठस्थ हैं या कहें कि उसे कंठस्थ करवा दी गई हैं।

एक दिन वो भी ऐसे ही गठरी बन के आई थी और गठरी की तरह धर दी गई उस घर में। तब से आज तक उसने गठरी से थोड़ी ही ज़्यादा जगह घेरी, अपने पांवों, हाथों की जकड़न खोलने को थोड़ा सा फैला लिया बस्स...उतना फैलना तो खटने के लिए भी ज़रूरी था न! पर वो तन कर खड़ी नहीं हुई, न ही हाथ-पैर फैलाकर लेटी।

उसी घर में अब ये दूसरी गठरी...काश ये बहू ज़िंदी हो, काश थोड़ी दबंग हो। काश ये बहू शाम ढले दरवाजे पर खड़ी हो, हवा से बतियाए, धूप से जले, बारिश में भीगे। काश...ये बहू थोड़ी आवारा हो कि उसके पैरों के नीचे रास्ते आएँ और आए थोड़ा दम, थोड़ा साहस और बहुत सा हौसला।

कन्या भ्रूण हत्या से आजादी?

पृष्ठ 16 का शेष

नेगामा, पिपरिया, गंजबासौदा विदिशा जो प्रदेश की राजधानी के पास का जिला है वहां की कमलेश बाई पत्नी श्री कैलाश मैना ने सातवीं बेटी को जन्म देने पर उसका पति अपनी नवप्रसूता को अस्पताल से घसीटकर ले जा रहा था और वह रोते हुये गिड़गिड़ा रही थी कि मुझे अस्पताल से मत जाने दो, मेरी बच्ची मर जायेगी। प्रसूता ने डॉक्टर को बताया कि उसने छठवीं बच्ची को जन्म दिया था तो उसके खाने-पीने पर पाबंदी लगाकर मारने की कोशिश की थी जिससे उस बच्ची की मौत हो गई और वह खुद भी कमजोर हो गयी। यह घटना आंखें खोलने वाली है, प्रशासन को शाम तक खबर लगी। इससे तो यही प्रतीत होता है कि प्रशासन जहां कुभकर्णी नौद सो रहा है ऐसे में बेटी बचाओ अभियान कितना मुकाम पर पहुंच पायेगा? ये सवाल हर किसी के मन में कौंध रहा है। बहुत सारी और भी घटनाएँ होती हैं जो दर्ज नहीं हो पातीं और न अखबारों तक पहुंच पाती हैं उनकी संख्या कितनी होगी... यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। भ्रूण हत्या की बढ़ती हुई घटनाएं जहां इस समाज की स्थिति को दर्शाती हैं, वही समाज में महिलाओं की उत्पीड़न के प्रति उनके विरोध को भी दर्शाती हैं।

आज विभिन्न अध्ययनों से यह प्रमाणित हो गया है कि चिकित्सक समाज की मांग की पूर्ति नहीं करते अपितु ये समाज में मांग पैदा कर रहे हैं। यदि मेरा यह विचार सही नहीं है तो क्यों गोखले इन्स्टीट्यूट पुणे द्वारा किये गये अध्ययन से यह साबित हो गया है कि जिन जिलों में जितने अधिक सोनोग्राफी केन्द्र हैं, वहां शिशु लिंगानुपात उतना ही कम है। इससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि इसमें मशीन का दोष नहीं है बल्कि

हमारी मानसिकता का है। जहाँ तक डॉक्टरों का सम्बन्ध है, सोनोग्राफी से मशीन अपना कार्य सत्य के रूप में उद्घाटित करती है उसमें उसका कोई दोष नहीं है। भ्रूण हत्या एक ऐसा व्यवसाय बन चुका है जिसमें डॉ. को लाभ ही लाभ है और जो परिवार इस कार्य में संलग्न रहता है वह इस कार्य के लिये उधारी लेकर के भी इस संकट (वैवाहिक कारण, लड़की की स्वतंत्रता संदिग्ध रहती है, वैवाहिक सम्बन्ध एक सम्पन्न व्यक्ति से ही करना चाहता है) से बचना चाहते हैं। लेकिन हिन्दू ग्रन्थ आज से लेकर अन्त तक इस मोर्चे पर अपनी पराजय को मुक्ति दाता के रूप में देखता है। मानसिकता यदि कन्या से प्रेम की है तो भ्रूण हत्या का प्रश्न ही नहीं उठता? यदि धार्मिक पुस्तकों से दहेज प्रथा की पुष्टि न हो और ऐसे ज्योतिषियों को दंडनीय घोषित न किया जावेगा तब तक इस प्रथा में मौलिक परिवर्तन असंभव है। लड़कियों की संख्या में गिरावट आने के कारण पुत्र प्राप्ति की चाहत, परिवार में बेटी की उपेक्षा व उसके साथ भेदभाव, औरतों की सामाजिक, आर्थिक एवं शारीरिक असुरक्षा, समाज में व्याप्त दहेज-प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों, रूढ़िवादी मानसिकता, लड़की की शादी की अनिवार्यता की चिंता गर्भावस्था के दौरान आसानी से उपलब्ध सुविधा जैसे कारक मुख्य तौर पर जिम्मेदार हैं। इन्हीं सब कारणों से कन्या भ्रूण हत्या का चलन जोरों पर है। लगभग दो दशक पहले पश्चिमी देशों से आई एमिनिओसेन्टेसिस, कोरियोनिन विल्स वायोप्सी एवं अल्ट्रासोनोग्राफी जैसे आधुनिक तकनीकों का विकास मानव समुदाय की बेहतरी को ध्यान में रखकर किया गया था, जिसके तहत गर्भ में पलने वाले शिशु के स्वास्थ्य और विकृतियों का पता चल सके। लेकिन कन्या को बोझ मानकर इन तकनीकों का इस्तेमाल कन्या भ्रूण हत्या करने के लिये किया जा रहा है जबकि भ्रूण हत्या पर सख्त कानून बना दिया है।

14 अप्रैल

गाँव में चहल-पहल थी। गाँव के किनारे दलित बस्ती से लेकर ग्राम समाज की ज़मीन पर लगी बाबा साहब की मूर्ति तक पतंगी कागज़ की झंडियां लगी थीं। जगह-जगह दलित बस्तियों में लगी मूर्तियों की तरह ये भी मूर्ति थी। गहरे नीले रंग का कोट-पैट, गोल चश्मा और हाथ में किताब उठाये बाबा साहब स्कूल जाते हुए बच्चे की तरह मासूम और कुतूहल से भरे हुए लग रहे थे। अभी कुछ दिन पहले तक कस्बे के छोर पर मूर्तिकार की कोठरी के दरवाज़े पर टंगी हुई सिल और हनुमान की मूर्ति के बीच सिर्फ एक मूर्ति जैसी यह भी थी। अब स्कूल के पास ग्राम समाज की ज़मीन पर बहुत विवाद के बाद यह मूर्ति लग गई है। रंगने-चुनने से नहीं बल्कि उस विवाद से यह प्रतिमा अब 'बाबा साहब' बन गई है। दलित अपनी इस विजय से खुश हैं। उनका दिल भी पतंगी कागज़ की झंडियों की तरह फड़फड़ा रहा है। सामने खेत से गुज़रती पगडंडी से आती-जाती उत्फुल्लित औरतें। उनके हाथ में खुरपियां, बेत की डलिया और झाड़ू हैं। वे सब बाबा साहब का चबूतरा और आस-पास की ज़मीन चिकनाने जा रही हैं। अपने-अपने ओसारे में बैठे ऊंची जाति के लोग, इन औरतों को देखकर गाली बकते हैं और आपस में बुड़बुड़ाते हैं।

'चमाइनियन सब निकारा करै जाथीं।'

यानी शनीचर भगाने जा रही है।

आज बाबा साहब का जनमदिन है।

14 अप्रैल

आज का दिन राघवेन्द्र मिश्र के जीवन में बहुत निर्णायक होने वाला है। राघवेन्द्र की उम्र सताइस-अट्ठाईस के लगभग होगी। अभी तक जीवन में कोई उथल-पुथल नहीं हुई। हाँ थोड़ा-बहुत हंगामा तब हुआ था जब उसने ठेकेदारी करने से मना कर दिया था। पिता जी बहुत उखड़े थे। इसके अलावा जीवन हस्बे मामूल चलता रहा है।

तीन लड़कियों के बाद जनमा था। पूरी नाते-रिश्तेदारी उमड़ी। बहुत बधावा बजा। उसी दिन पहली बार मिसिर जी परधानी का चुनाव जीते। 'देखा! लड़केन बहुत भाग्यसाली होत हैं। बाप की किस्मत लै के आवा है। देखौ चेहरे पर कइसी रौनक है बिल्कुल मिसिर जी पे गवा है।' उसी दिन से मिसिर जी राघवेन्द्र की ज़िन्दगी पर छा गये। बोली-बानी, बात-व्यवहार, नाक-नक्श सब मिसिर जी जैसा, माँ जैसा कुछ भी नहीं... बहनों से बिल्कुल नहीं मिलता। बहनों तो माँ की गलित्यां थीं और अब ये जो भाई है...पिता की उपलब्धि है। 'बिल्कुल पिता पर गया है, राघवेन्द्र की चाल-ढाल सब वैसी ही, मिसिर जी जैसी।' राघवेन्द्र अक्सर शीशा देखता... 'हूबहू मिसिर जी...कब पीछा छोड़ेंगे।'

मिसिर जी यानी पंडित रामेश्वर मिश्रा। प्रधान हैं। समझ लीजिए परधानी का पट्टा लिखा है इनके नाम। बीच में एक बार परधानी से वंचित रहे थे जब खजुरहट रिज़र्व सीट घोषित हो गयी थी। इसके

अलावा क्या मज़ाल कि कोई जीत के दिखा दे। खजुरहट में ब्राह्मण परिवार काफी थे, कुछ ठाकुर, दो-चार यादव, ऐसे ही मुसलमान। दलित बस्ती काफी बड़ी थी ज़्यादातर चमार और कुछ मुसहर परिवार। अगर कुछ दलितों को पटाकर रखो तो चुनाव जीतना मुश्किल नहीं था और अब तो मिसिर जी बड़े चुनावों की तरफ नज़र डाल रहे थे। ज़मीन थी लेकिन बहुत नहीं। ठेकेदारी का काम बहुत लंबा चौड़ा था। पंचायत के ठेके से लेकर पी.डब्ल्यू.डी. तक सारा ठेका हासिल कर लेते थे। सूद पर पैसा भी चलाते थे। कर्ज़ को वोट में बदलना भी जानते थे।

दलितों में ज़्यादातर भूमिहीन थे। कुछ के पास बिस्सा-दो बिस्सा ज़मीन थी। इन परिवारों के पास सन अठहत्तर से पट्टे के कागज़ रखे हैं, पर कब्ज़ा नहीं मिल सका। तहसील से लेकर डी.एम. तक दौड़ते रहे हैं, विधायक से मुख्यमंत्री तक ज्ञापन देते रहे हैं, धरना-प्रदर्शन भी हुए, गाँव में तनाव भी हुआ...। अभी पहला कब्ज़ा सफल हुआ...जब कई दिन के तनाव के बाद...पुलिस-प्रशासन के बीच-बचाव के बाद डॉ. अम्बेडकर की मूर्ति लग सकी। सी.ओ. ने मिसिर जी के घर चाय पीते हुए कहा 'क्या करिएगा मिसिर जी अब एनही चमार-मुसहरों का जमाने आ गया है।'

'ग्राम खजुरहट में आपका हार्दिक स्वागत है', सड़क के किनारे गाँव के मुहाने पर बड़ा सा द्वार बना है। जिसे देखकर पता चलता है कि परधान ने पंचायत के पैसे का कैसा सदुपयोग किया है। बरसात में खड़जा धंसे कई साल हो गये। बिजली के खंभे भी धंसी हुई मिट्टी के गड्ढों में झूल गये हैं जूनियर हाईस्कूल में सिर्फ दो टीचर हैं, बच्चे पेड़ के नीचे बैठे खेलते रहते हैं। पंचायत की 'खुली बैठक' की सूचना गाँव के लोगों को नहीं मिलती, कोई मुनादी नहीं...हाँ! ठकुराने में शादी पर नाचने के लिए कहां से औरतें आ रही हैं या पंडिताने में कब अखंड पाठ बैठ रहा है, यह खबर ज़रूर पूरे गाँव में पहुंच जाती है। खुली बैठक में सर्व सहमति से होने वाले फैसले दबंगों की आपसी समझदारी से तय हो जाते हैं और बैठक कभी नहीं खुलती। कुल जमा परधान जी की उपलब्धि का उद्घोष करता हुआ यह द्वार उठ खड़ा हुआ है 'हार्दिक स्वागत है।'

मिसिर जी की पहली उपलब्धि तो लेकिन राघवेन्द्र ही हैं। जब भी कोई कहता 'परधान जी! राघवेन्द्र भइया आप के तरह बहुत ब्योहारी हैं' तो परधान जी की छाती चौड़ी हो जाती। हालांकि कभी-कभी राघवेन्द्र के बचपन से ही उन्हें शक होता कि 'लगत है साला थोड़ा मेहरा है। जब देखौ माई के लगे घुसा रहता है...बहिनन के साथ खेलत रहत है।'

एक बार तीनों बहनें मिलकर राघवेन्द्र को सजा रही थीं। उसे छोटी सी चुनरी से साड़ी पहनाई गई ...टिकुली, बिंदी, लाली... सब लगाये गये। इसी बीच कमरे में पिता घुस आये। राघवेन्द्र को गुड़िया बने देखकर हथ्थे से उखड़ गये। बहनों और मां पर बेतरह बरस पड़े। 'बनाए देओ मेहरा अबहिन से। तुम लोगन तो चली जाबौ ससुराल।

हिया जब चमरे सिर पे चढ़ के मुतियें तो...इ ससुर के नाती पतुरिया बन के डांस करियें। शायद गाँव में दलितों ने मजदूरी को लेकर झंझट की थी और परधान जी जले-भुने घर में आए थे। वहां राघवेन्द्र को सजे-धजे देखकर फट पड़े। जल्दी से उसकी चुनरी उतार कर फेंकी। उसका मुंह धुलाया। तेजी से राघवेन्द्र को घसीटते हुए बाहर आए और खटिया पर बैठ गये। सामने से कंधे पर लाठी रखे एक-दो गायें हांकता हुआ एक आदमी गुज़रा। जैसा कि राघवेन्द्र को याद है। और परधान जी से बोला 'वाह मालिक का जुगल जोड़ी है। राम-दसरथ की तरें। 'राम-दशरथ'...

राघवेन्द्र की यही पहली स्मृति सबसे गाढ़ी है, जब उसे लगा कि उसके चेहरे के ऊपर कोई और चेहरा चिपका है।

'बिल्कुल मिसिर जी की तरह'।

उसे लगा जब वह बड़ा होगा तो अपनी तरह का हो जाएगा।

उस दिन जब पिता चले गये...वह मां के पास बहुत देर तक दुबक कर बैठा रहा। बहनें दूर बैठी उसे घूरती रहीं...अपनी अलग-अलग नियति को महसूस करती रहीं। फिर कभी दुलहनियां बनने का वह गुप्त खेल नहीं खेला गया। बहनें उसे मनुष्य बनाना चाह रही थीं, परधान जी उसे मर्द बनाना चाह रहे थे ताकि आस-पड़ोस, चार गाँव में लोग कहें-

'बिल्कुल मिसिर जी की तरह'।

मिसिर जी ही जीते, राघवेन्द्र मर्द ही बना। अपने हाथ से लेकर एक गिलास पानी भी कभी नहीं पिया। उसके किशोर होते-होते तक सारी बहनें ब्याह दी गईं। अब कभी-कभी आती हैं सपनों जैसी, बचपन के उन गुप्त खेलों की तरह निश्चल और सपनीली...और तुरंत गुम हो जाती हैं। वह बाप की घनी और बेटब मूँछों के साये में पल रहा था। बहनों का परस और मां की कभी-कभार की हल्की झिड़कियों से उसमें थोड़ा मनुष्य बचा रहा... कह सकते हैं उदार मर्द।

राघवेन्द्र किशोर हो रहा था और थोड़ा बहुत समझने लगा था। उसे समझ आ रहा था कहीं कोई औरत है जिससे मिलने उसके पिता जाते हैं। हर दूसरे-तीसरे पिटती अपनी मां से जाकर वह चिपट जाता और बाप के भारी हाथों की चोट उसे समझ आती। जब तूफान गुज़र जाता और मां टूटी हुई नाव की तरह हिचकोले खाती रहती, वह मां से चिपटा रहता और उस दिन की आमद से डरता जब उसके ऐसी ही मूँछें होगी, वह गुस्से में कांपती रहेंगी...वह है तो आखिर अपने बाप जैसा ही न! 'बिल्कुल मिसिर जी की तरह'।

वह अक्सर शीशे के सामने खड़ा मुंह बनाया करता, बिराया करता ताकि अपने चेहरे से बाप की लकीरों को मिटा सके। लेकिन जितना लोग कहते उतना ही उसे लगता कि ये लकीरें गाढ़ी होती जा रही हैं। वह अक्सर स्कूल से वापस आकर शीशा लेकर मां के पास बैठ जाता। एक दिन मां खाना परोस रही थी और वह शीशा देखते हुए बोलता रहा-

'अम्मा हमार सकल तुमसे मिलथी न ! देखौ हमार नाक बिल्कुल तुहार जैसी हैं बोलौ न अम्मा!

अम्मा के चेहरे पर कान के पास नील पड़ी थी।

'नाहीं बेटा! हमसे तुम्हार सकल नाहीं मिलत...तुम्हार सकल अपने बाबू जी से मिलत है।... इसके बाद अम्मा धीरे से बोली। 'हमस तुम्हार कुछौ न मिलै तो अच्छा न सकल... न किस्मत!'

मां रसोई में चली गई। राघवेन्द्र उसके साये को देखता रहा।

राघवेन्द्र बड़ा होने लगा... आठवीं तक पहुंचते-पहुंचते स्कूल में भी उसकी धाक बन गयी। इसमें पढ़ाई का योगदान उतना नहीं था जितना मिसिर जी का लड़का होने का था। कभी कभार स्कूल के मास्टर भी जब मिसिर जी के यहां हाजिरी देने आते तो अपनी 'हैं हैं के साथ यह कहना नहीं भूलते-

'अभी से राघवेन्द्र का सुभाव आपकी ही तरह है मिसिर जी। पढ़ने में भी...! खानदान का भी असर पड़ता है।'

राघवेन्द्र पास में खड़ा रहता और पिता के आदेश का इन्तज़ार करता। 'बेटा जरा अम्मा से कहौ, गुरु जी लोग के लिए कुछ चाय पानी 'हैं हैं'... गुरुजी कहते। 'चाल भी देखो बिल्कुल मिसिर जी जैसी।' ये शब्द उसके पांवों से लिपट जाते और वह मां से चाय-पानी के लिए कहने के बाद फिर से शीशे के सामने खड़ा हो जाता।

राघवेन्द्र का विशिष्टता का अहसास भी बढ़ रहा था। बगीचे में अक्सर राजा-परजा का खेल होता। राघवेन्द्र हमेशा राजा बनता। दलित बस्ती के बच्चे सेवा टहल करते...झाड़ू लगाते, दरबानी करते और राजा के दरबार में अपने संकट की गुहार लगाते। एक दिन परधान जी अपने कुछ 'हैं हैं' के साथ खेत की ओर जाते वक्त बगिया से गुज़र रहे थे। राघवेन्द्र पत्तों का मुकुट पहने खटिया पर बैठा था। बगल में कुछ लड़के बेहया की डंडियां लिये खड़े थे। बाकी सब 'राज-काज' जारी था। एक 'हैं हैं' बोला-

'देख रहे हैं परधान जी। बिल्कुल आप पर गया है।

दूसरा 'हैं हैं' वहीं से तेज़ी से चिल्लाया, जिससे खेल में मगन राघवेन्द्र चौंक पड़ा-

'राम-राम छोटे मिसिर।' फिर सब हंसे, मिसिर जी ने आश्वस्त भाव से राघवेन्द्र को देखा और आगे निकल गये। थोड़ी देर बाद जब मिसिर जी घर पहुंचे वहां एक कांड तैयार खड़ा था। राघवेन्द्र का माथा फूट गया था और लगातार खून बह रहा था। अड़ोस-पड़ोस के कई लोग इकट्ठा थे। किसी ने जल्दी से सारी घटना सार संक्षेप में बता दी। बच्चे बगिया में खेल रहे थे। तभी पड़ोस के गाँव के कुछ बच्चे वहां से गुजरे। किसी बात पर कहासुनी हुई और मारामारी शुरू हो गयी। मिसिर जी ने पूछा 'का भवा काहै कपार फोड़ आये'

'उ लोगन आये और थोड़ी बातचीत भई। सब मिलकै किसुनवा को मारै लगें।'

'कउन किसुनवा!

'वही जेकर घर हुआं छोर पर है, नहर के ऊ तरफ।

'कहां! वहां जहां मुसहरवन रहत हैं।'

'हां!हां! वहीं!

'तो साले! तू जाएके मुसहरवन बदे मार काट कर आवा! देखौ साले कौ। चमार-मुसहर से रिस्तेदारी कर के बइठा है।'

'तो का हम देखत रहते! हमार परजा को मारत रहे सब जाएके। हम देखत रही। वहुओ तो हमार बरै लड़त रहा।

'वहुओ तो हमार बरै...। गाली बकते हुए मिसिर जी ने तेजी से पान थूका 'साले ऊ सब तो एही बदे पैदा भये हैं कि मरत रहे...लात खात रहें। तुम साले काहे मूड़ी डालेओ।'

'हमार परजा...!'

'चु बे।' मिसिर गरज पड़े और राघवेन्द्र चुप हो गया।

'जा एका पट्टी-सट्टी करवावौ।' जब राघवेन्द्र जीप पर बैठने लगा। उसके कान में फिर वही आवाज़ पड़ी...

‘कुछ भी कहें। हए तो राजे। आपन राघवेन्द्र बहादुर भी आपे के जइसा हैं।’ राघवेन्द्र को लगा अगर गहरा सा घाव का निशान पड़े तो उसकी शकल जरूर बाप से अलग हो जाएगी। लेकिन घाव का कोई खास निशान नहीं पड़ा। दिल पर जरूर निशान पड़ा। जिसने उसे पिता के करीब पहुंचा दिया। वह समझ गया कि चमार-मुसहर लात खाने के लिए बने हैं। लेकिन उसके बचपन के खेलों ने उसे अपने पिता से थोड़ा दूर भी रखा। कह सकते हैं उदार ब्राह्मण ‘हमार परजा’।

राघवेन्द्र बड़ा होने लगा। पिता की शकल लिये। पढ़ा तो पिता की तरह। मोटर साइकिल पर घूमा तो उनके जैसा। थोड़ा बहुत इश्क किया वह भी उनकी तरह। गाँव के झगड़ों में फैंसला दिया तो उनके जैसा। हालांकि मिसिर जी पूरी तरह आश्वस्त नहीं रहे। ‘एक तो बचपन से थोड़ा मेहरई पसन्द है साले को दूसरे चमार-मुसहर के साथ साला गलचौर करै लगत है। इधर-उधर आवत-जात।’

इंडरमीडिएट के बाद उसने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में दाखिला ले लिया। वहां मिसिर जी का कोई रूआब नहीं था। राजा और परजा कोई नहीं। मकान मालिक जब हड़काता था तो सारी जमींदारी तेल हो जाती थी। यूं तो मोबाइल फोन भी था और मोटर साइकिल भी थी लेकिन उससे शहर में वैसा रोब-दाब बनना मुश्किल है जैसा गाँव में बनता है। यूं तो जांत-पांत वहां भी कोई कम न थी लेकिन राजा-परजा जैसा रिश्ता न था। राघवेन्द्र भी अनोखा नहीं था, पढ़ने में उससे तेज-तुरम खां भी उससे बड़े-बड़े। हां लेकिन एक रोग जो बड़ी यूनिवर्सिटी में जाकर लग जाता है वह उसे भी लग गया। स्नातक होते-होते तक उसे लगा कि नौकरशाही की गढ़ियां, अर्दली और कार की लाल-नीली बत्तियां उसका इंतज़ार कर रही हैं। उसने तय किया कि वह आई.ए. एस. बनेगा। मिसिर बमके थोड़ा और निराश हुए। दीन-दुनिया देख चुके थे जानते थे कि उनके राघवेन्द्र जैसे शहर में सैंकड़ो पड़े हैं। इससे तो अच्छा होता, ग्रेजुएट हो गये हैं वापस घर आते, ठेकेदारी सम्हालते और बाप के राजनैतिक कैरियर के लिए जोर लगाते... ‘आज कल अपने खून का ही भरोसा रहता है पॉलिटिक्स में।’

शक पहले ही था बाप को कि ई साला धोखा करेगा। राघवेन्द्र के सामने ही अपनी पत्नी के ऊपर बमके, ‘कहत रहे साले से जादा लाड़ न लड़ाओ अब भुगतो।’ अरे ठेकेदारी में मरदानगी का पैसा है। दूसरे ठेकेदारन से जूझो, अधिकारियन से डीलिंग पानी करो और सालेन इ मजदूरवन की नटेइया कसे रहौ... तब जाए के सपरत है ई धंधा। अउर पालिटिक्स वहू मरदानगी का धंधा है... बखत जरूरत पुचकारत रहो अडर जब सही बखत देखौ लात मारौ। कबहू जात पूरी भूल जाओ-कबहू जात के अलावा सब भूल जाओ। लेकिन जइसे भी रहौ आपन ठसक बनाये रखौ... मरदानगी का धंधा है...।’

‘इ परिवार...इ रिश्ता...यहू तौ मरदानगी का धंधा है।’

पत्नी मन में बोली। मिसिर बोलते रहे।

‘बोलौ! अब मुंह में दही जमा है। इहां गाँव-जवार में इतना रसूख... इतनी जमीन तैयार किया... केहके बदे... तुम वहां इलाहाबाद में किताब में सर घुसाए रहबो... इहां सब जुट जाइ। अरे रसूख बनावे में, रूतबा-रूआब बनावे में बखत लगत है, खतम होए में बखत नाहीं लगत! अब कोई भरोसा नहीं कि पांच-सात साल गरक करै के बाद तुम अफसर बनै जाओ। हां लेकिन अगर मेहनत करौ तो कुछ बरस में विधायकी स्योर साट है, बताए देइथी।’

‘एक बार ट्राई करै में का जात है। अब वैसे भी हमसे ई ठेकेदारी,

पालिटिक्स न होई।’ राघवेन्द्र के शायद शहर में रहने से... या यूनिवर्सिटी का असर था कि उसके सपने दूसरी ओर मुड़ गये थे।

‘जाओ ससुर मरौ। रिजर्वेशन इतना है कि घिसटत रह जाबो पहुंच न पाबौ।’

मन तो किया कि राघवेन्द्र की खाल खींच लें। लेकिन इकलौता लड़का है कहीं हमेशा के लिए दूर न हो जाए, यही सोच कर ज़ब्त कर गये।

‘जाओ जउन मन करै तउन करौ।’ मन मार के बोले मिसिर। लेकिन आस-पड़ोस में जिसने सुना वाह-वाह की। ‘वाह मिसिर जी जैसा! निगाह हमेशा ऊंचाई पर रहती है।... जैसे-जैसे जवान हुआ है... नाम ऊंचा करेगा बिल्कुल मिसिर जी की तरह।’

गाँव में वह कुछ भी कर ले हमेशा रहेगा मिसिर जैसा।

उस दिन से राघवेन्द्र का जीवन एक सा चल रहा है। ये कोचिंग... वो कोचिंग... टाइमपास के लिए एम.ए. फिर रिसर्च में एडमिशन... विषय था ‘स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय राजनीति की मुख्य धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन’... थोड़ा चाय के अड्डे की बहसों में अम्बेडकर-गांधी-मार्क्स भी बतिया लेता था। और अपने दोस्तों की तरह अम्बेडकरवा न कहकर डॉ. अम्बेडकर कहने लगा था। यूनिवर्सिटी की राजनीति में रुचि भी रखते थे। मुंह पर तो सभी से कहता, हाँ बस आपको ही समर्थन है। यूं राघवेन्द्र यूनिवर्सिटी की सर संस्कृति में घुले-मिले, राजनीति शून्य... कैरियर की ओर मुंह उठाये चला जा रहा था। कमरे में एक पोस्टर लगा था, ‘No. Politics Please’।

राघवेन्द्र बीच-बीच में गाँव जाता रहता। गाँव जौनपुर में था। इलाहाबाद से तकरीबन सत्तर-पचहत्तर किलोमीटर दूर। लेकिन समय और दूरी के अन्तर पर बैठकर वह गाँव में क्रमशः होते परिवर्तन को महसूस कर रहा था। शहर में होने वाली राजनीतिक चर्चाओं और सभा गोष्ठियों से वह चीज़ों को थोड़ा तुलनात्मक रूप से देख पा रहा था। सबसे बड़ा सुकून उसके लिए यह था कि वह शहर में था और यहां कोई भी यह कहने वाला नहीं था ‘बिल्कुल मिसिर जी की तरह। अपना चेहरा गढ़ने के उनके रास्ते थे लेकिन उन पर चलना उसके लिए मुमकिन नहीं था। सुविधायें उसी चेहरे के साथ थीं। पैसा, मोबाइल... मोटरसाइकिल। हालांकि इलाहाबाद का उसका स्कोप भी उसे पूरा... पूरा... फुल प्रूफ नहीं जान पड़ा। अभी कुछ दिन पहले पिता जी इलाहाबाद आए थे। कुछ हाल चाल लेने, कुछ हाइकोर्ट में मुकदमे के सिलसिले में। राघवेन्द्र को बता गये ‘चमरवे सब ग्राम समाज की जमीन कब्जियाए हैं... अम्बेडकरवा की मूर्ति बदै। ऊ तो कहौ विधायक नरम पड़ गवा नहीं तो बताते सालेन को। विधायकौ साला यादव होए के... चमरवन की... में घुस रहा है।’ जब मिसिर जी कमरे से निकल कर गये राघवेन्द्र का एक नया परिचित जूनियर कमरे में घुसा-‘सर! आपके पिताजी थे...! अरे आप बिल्कुल उन्हीं की तरह हैं।’ राघवेन्द्र का मन किया उसे धक्के देकर बाहर कर दे। कुछ दिनों बाद राघवेन्द्र गाँव आया। बाबा साहब की मूर्ति लग चुकी थी। उनके जन्म दिन 14 अप्रैल को इसका जलसा था। 14 अप्रैल को राघवेन्द्र के जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आने वाला था।

आज बाबा साहब का जन्मदिन है।

14 अप्रैल।

चबूतरे पर ही मंच बना है।

जलसे की गहमागहमी है। चारों ओर धूप में पतंगी कागज़ की झंडिया झिलमिल रही हैं। पास के ब्लॉक से आए गायकों की मंडली गीत प्रस्तुत कर रही है। 'बीरन तोहके कउने जतन समझाई।' इस गीत में दलितों को छले जाने का वर्णन है। राम ने शम्बूक को छला, वामन ने राजा बलि को छला और कैसे एकलव्य को महाभारत में छला गया। लेकिन युग बदला बाबा भीम को नहीं छला जा सका और संघर्ष के द्वारा उन्होंने शिक्षा और अधिकार का प्रकाश फैलाया। ढोलक पर बैठा नौजवान पूरी लहक से ढोलक बजा रहा था। जिससे गीत में रवानी पैदा हो रही थी।

सामने की पंक्ति में कुर्सी पर बैठा राघवेन्द्र गीत सुन रहा था। मन दुविधा में फंसा था। कभी वह ढोलक की थाप पर पैर से थपकी देने लगता, तभी यह पूरा माहौल उसे अपना मज़ाक उड़ाता सा लगता और वह थपकी देना बंदकर इधर-उधर देखने लगता।

दो दिन पहले उसे किसुनवा मिला था। वही किसुनवा जिसके साथ राघवेन्द्र बचपन में घायल हुआ था। अब वह किशना था और दलित अधिकार मंच नाम के एक संगठन में काम करता था। उसने घर आकर परधान जी को जलसे का औपचारिक बुलौवा दिया और राघवेन्द्र को भी आने को कहा। परधान जी गये नहीं और अपने प्रतिनिधि के तौर पर राघवेन्द्र को भेज दिया।

प्रधान जी जाते भी कैसे! रिज़र्व सीट पर प्रधान रह चुके जोखन सिंह आज के जलसे के मुख्य अतिथि थे। जोखन सिंह का दलित बस्ती में बहुत सम्मान था लेकिन मिसिर जी के लिए वे बस 'बूढ़ा चमरा' थे।

आज के जलसे में बहुत से कार्यक्रम थे। गीत प्रस्तुति, नुक्कड़ नाटक, भाषण और माल्यार्पण। राघवेन्द्र अपने में खोया-खोया बैठा था। तभी बौद्धाचार्य जी ने जो पहले पहल बहुत अच्छे फुटबॉल खिलाड़ी रह चुके थे...बाबा साहब के जीवन के बारे में उनके संघर्ष और संदेश के बारे में वक्तव्य दिया। इसके बाद किशन माइक पर आया और उसने घोषणा की कि अन्य कार्यक्रमों से पहले माल्यार्पण कार्यक्रम सम्पन्न होगा। बच्चों, औरतों और गलचौर करते आदमियों से वह जगह जगी-जगाई लग रही थी। किशन नाम पुकारता और वह व्यक्ति आगे आता मूर्ति पर माला चढ़ाता, चरण छूता और चबूतरे से नीचे उतर आता। तभी किशन की घोषणा से राघवेन्द्र की तंद्रा भंग हुई-

'अब हम अपने परधान जी के लड़के, राघवेन्द्र जी से गुजारिस करेंगे कि वह भी आकर बाबा साहब को फूल चढ़ावें।... राघवेन्द्र भाई हमारे गाँव के सबसे पढ़े-लिखे...।'

अब राघवेन्द्र ने कुर्सी से उठकर चलना शुरू किया। किशन बोल रहा था लेकिन उसके शब्द उसके कान तक नहीं पहुँच रहे थे। उसके दिमाग में एक के बाद एक चीज़ें तड़तड़ गुज़र रही थीं। एक बार सामने डॉ. अम्बेडकर की मूर्ति पर ध्यान जाता और दूसरी ओर तेज़ी से अपने पिता की ओर। उसकी कनपटी की नस तड़क रही थी और वह धीरे-धीरे मूर्ति की ओर बढ़ रहा था। उसे महसूस हो रहा था सैंकड़ों निगाहें उसके चेहरे पर गड़ी हुई हैं। अपनी शहरी शारीरिक भाषा और चलने के मैनेरिज़्म में वह छांव तलाश रहा था और निगाहें थीं कि उसका पीछा किये जा रही थीं। यहां कोई नहीं था जो कहता, 'बिल्कुल मिसिर जी की तरह।' वह इन सारे चेहरों को जानता है-बचपन से, पर आज लग रहा है सबको पहली बार देख रहा है। वास्तविकता ये थी कि कोई उसे घूर नहीं रहा था सब जलसे के उल्लास में मगन थे। बच्चे खेल

रहे थे और गीत-भाषण के बाद की इस खाली अवधि में लोग बोल-बतिया रहे थे। लेकिन वह तनाव में था। आखिर वह चबूतरे तक पहुँच ही गया। एक किशोर कुछ मालायें हाथ में लेकर मूर्ति के पास ही खड़ा था। राघवेन्द्र ने कंपकंपते हाथों से माला लिया, मूर्ति पर चढ़ाया और ढेर सारी घूरती नज़रों के दबाव में झुककर पैर छू लिया...पटापेक्ष!

आज 14 अप्रैल है।

'पता नहीं केपर गवा है इ राघवेन्द्रवा। कोई लच्छन मिसिर जी से नहीं मिलता।' उसके वापस आने से पहले खबर पंडिताने तक पहुँच गई थी कि राघवेन्द्र ने अम्बेडकरवा का पैर धै लिया। 'छी...छी...हम तो पहले से ही कहते थे...मिसिर जी का एकौ गुन नहीं है राघवेन्द्रवा में...।'

राघवेन्द्र घर पहुँचा।

मिसिर जी फाड़ खाने के लिए तैयार बैठे थे।

'लेओ ई हमार चोटी काट के वहीं चमरवन के गोड़ में धरि आओ! कुलदीपक! एसे अच्छा तो वहीं रहतेओ कम से कम इ दिन तो न देखे के पड़ता।'

'जान देओ बच्चा है...। अम्मा बोली और सिर्फ आंखें देखकर सहम गई।

'यही बदै इतना रसूख बनावा रहा कि ई जाए के चमरवन से मरवावत फिरै...। एक दिन... हम कहत रहे, एक दिन ई साला हमार नाम डुबाई। तब साले सब लगुवे-भसुवे कहैं-मिसिर जी आपै पर गवा है। आपै के लच्छन पाये हैं। क रे ससुरी कहीं अडर से लेके आई रही का...।'

न मां के लिए यह सम्मान नया था और न ही राघवेन्द्र का इसका दर्शक बने रहना। मां चली गई कमरे से। राघवेन्द्र उठकर जाने लगा तो बाप ने टोका।

'का इरादा है अब...कलै यहां से चले जाओ, जिती देर हमरी आंख से ओट रहौ अच्छा है। जाए के वहीं किताब में धसौ। अधिकारी बनिहें ससुर। बाप दादा की कुल कमाई एक सेकेन्ड में बोर आए।'

राघवेन्द्र वहां से उठा और बाहर चला गया। अन्यमनस्क सा थोड़ी देर दरवाज़े पर खड़ा रहा और फिर जिधर मुंह घूमा उधर चलने लगा। अपने टोले से गुजरते समय उसने हर चेहरे पर लिखा पाया 'कुलबोरन...बंस का सिर झुका दिया उ भी साले चमरवन के सामने...बिल्कुल भी बाप पर नहीं गया।'

राघवेन्द्र के सामने बचपन से लेकर अभी तक के चित्र आ-जा रहे थे। वह किसी विचार या उधेड़बुन में नहीं था। बल्कि वह कुछ भी समझ पाने की स्थिति में नहीं था या जिसे उसका एक रूम मेट कहा करता था ब्लैक था, बस चित्र आ जा रहे थे। माँ-बहनें...किशन...।

वह चलते-चलते पोखर के किनारे पहुँचा। वहाँ नीम के पेड़ की एक डाल पर बैठ गया। यह डाल ज़मीन के बिल्कुल समानान्तर थी और पोखर पर झुकी हुई थी। वह डाल पर बैठकर अपना चेहरा पानी में देखने लगा और आज सुबह की घटनाएं याद आने लगीं-जलसा...गीत...भाषण...माल्यार्पण...झुककर...।

उसने पानी में फिर चेहरा देखा।

'मिसिर जी से बिल्कुल नहीं मिलता। एकौ गुन नहीं।'

उसने पीछे की ओर लटककर एक कंकड़ उठाया और पानी पर बने अपने चेहरे पर टपका दिया।

पानी में भँवर उठी और उसका चेहरा पानी के साथ कांपने लगा।

मौर्यकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाएं

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

सामाजिक प्रक्रियाएं, कठोरतापूर्वक, काल-खण्डों में नहीं बांटी जा सकतीं। वे किसी युग के पहले से शुरू होकर उसके अन्त के बाद भी जारी रह सकती हैं, रहती हैं। किंतु, जहां से वे स्पष्टतः दृष्टिगत और प्रभावशाली हो उठती हैं, उन्हें उस काल खण्ड की विशेषता समझा जाता है। निरंकुश स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के विकास की प्रवृत्ति मौर्य युग से पहले की है, किंतु उस युग में वह स्पष्टतर प्रभावशाली हो उठी है। उसी प्रकार, पौराणिक धर्म का अभ्युत्थान मौर्य युग के पूर्व से शुरू होकर, उसके बहुत बाद तक चलता रहा। इस बीच, ब्राह्मणों और बौद्धों में बहुत-कुछ आदान-प्रदान हुआ। इन सबकी एक झलक यहां देने का प्रयत्न किया गया है।

मौर्य काल में निरंकुश स्वेच्छाचारी राजतंत्र का संपूर्ण विकास हुआ। सारी राजनैतिक सत्ता राजा के पद में समाहित हो गयी। समाज की विभिन्न संस्थाओं, संगठनों, संघों, जातियों को स्वायत्त शासन प्राप्त था। सारी जनता इन संगठनों में बंधी हुई थी। ये संगठन अपने-अपने रूढ़ि नियमों द्वारा कार्य करते थे। औद्योगिक उत्पादन के लिए भी भिन्न-भिन्न शिल्पी संघ थे। एक-एक व्यवसाय के लिए एक-एक शिल्पी-संघ। इन संघों और संगठनों, बिरादरियों और जातियों के रूढ़ि-नियमों को धार्मिक तथा राजकीय मान्यता मिल चुकी थी। उनके स्वायत्त शासन में राजा का कोई हस्तक्षेप न होता।

साथ ही, जनता भी राजा के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी, यहां तक कि वह उसको विधिपूर्वक प्रभावित नहीं कर सकती थी। सारी राजनैतिक सत्ता राजा के हाथ में केंद्रित हो गयी थी। फलतः, समाज के उच्च वर्ग-राजन्य वर्ग और सामान्य जन-इन दो के बीच खाई पड़ गयी थी। शिक्षा तथा संस्कृति उच्च वर्गों के हाथ में थी, जनता निरक्षर तथा देश-कार्य से उदासीन हो गयी थी-‘कोउ नृप होहु हमहिं का हानी’ वाली नीति, जन-मान्य थी।

फलतः, एक ओर आक्रान्ता (विदेशी आक्रान्ता भी) जन-संहार करता था, नगरों को ध्वस्त करता था, तो दूसरी ओर समीपवर्ती क्षेत्रों में किसान धैर्य और शान्तिपूर्वक अपना हल चलाता था। सामान्य जनता वंश-परम्परागत रूप से, विशेष जातीय-सामाजिक शिल्पिक संघों, संस्थाओं और पंचायतों के प्रति, निष्ठावान तथा धर्म और रूढ़ि के प्रति तो निष्ठावान थी-क्योंकि उन्हीं के बीच और उन्हीं के अनुशासन में उसे कार्य करना पड़ता था; किन्तु, अपने प्रदेश या देश के प्रति उसका कोई अनुराग नहीं था। सारा देश-कार्य उसने अपने राजाओं और सामन्तों को सौंप रखा था और दोनों एक-दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते थे।

फलतः, विदेशी आक्रमणकारियों का प्रतिरोध जनता द्वारा नहीं

हुआ। वह जिस खुशी से अपने सामन्त या राजा के अधीन कार्य करती थी, उसी खुशी से वह विदेशी शासन के अधीन कार्य करती रहती थी। बशर्ते कि (अ) उसके सामाजिक-आर्थिक रूढ़ि-बद्ध स्वायत्त शासन में कोई हस्तक्षेप न करे, (ब) और उसकी धर्म-भावना पर आघात न करे।

राजन्य वर्ग और जन-साधारण- इन दो की ये महत्वपूर्ण विशेषताएं इतनी भयानक हो उठीं कि देश अनेक बार विदेशी शक्तियों का शिकार हुआ, नयी-नयी सामाजिक समस्याएं उठ खड़ी हुईं। यह व्यवस्था, थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ, दो हजार साल से ज़्यादा समय तक चली। जब अंग्रेज़ भारत में आए तब उन्होंने इस व्यवस्था को नष्ट कर दिया।

शिल्पी-संघ

एक-एक व्यवसाय के लिए, एक-एक शिल्पी-संघ का अभ्युदय और उत्कर्ष हुआ। इन संघों के आर्थिक-सामाजिक व्यवहार उनके अपने नियमों के अनुसार होते। क्रमशः, इन्हीं शिल्पी-संघों से पेशेवर जात-बिरादरियों का विकास हुआ।

शिल्पी-संघों के फलस्वरूप उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। देश के उच्च वर्गों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, भिन्न-भिन्न नगरों में बड़े-बड़े व्यवसाय-केंद्र खुले। वस्त्रोद्योग का खूब विकास हुआ। रेशमी, ऊनी वस्त्र भी बनाये जाते। सोना-चांदी, हस्तिदन्त संबंधी कला-कारीगरी का भी खूब उत्कर्ष हुआ। जहाज़-निर्माण के उद्योग का भी विकास हुआ।

वैश्य वर्ग

वैश्य वर्ग अब धनिक हो उठा। वह ‘श्रेष्ठिन’ कहलाने लगा। सांस्कृतिक प्रभाव भी उसने ग्रहण किया। विभिन्न नगरों में वे शक्तिशाली हो उठे, राजाओं पर भी उनका प्रभाव रहा। अब इस वर्ग के पात्र आख्यानों, कथाओं में भी प्रवेश कर गये। ये साहसी थे। विदेशों में जाते थे। अनेक विदेशी नगरों में उनके मुहल्ले थे। जल-मार्ग तथा स्थल-मार्ग द्वारा विदेशी व्यापार होता। ईरान, यूनान मिस्र और रोम, तथा पूर्व में चीन, तथा आज के यवद्वीप (जावा), स्वर्णभूमि (ब्रह्मदेश) आदि देशों से व्यापार करते। अन्तर्देशीय व्यापार भी बढ़ा-चढ़ा था।

स्त्रियों

सामन्त सभ्यता के अभ्युदय काल में ही, नारी की दशा गिरने लगी। स्त्री, अब पति की सम्पत्ति समझी जाने लगी। दहेज़ प्रथा (आसुर विवाह के अन्तर्गत) जारी हो गयी। साथ ही विवाह के लिए नारियों के विक्रय और क्रय के उदाहरण सामने आये।

फिर भी, प्राचीन परम्पराओं के प्रति अभी भक्तिभाव था, उसके कारण नारी जाति को कुछ स्वतंत्रता भी थी।

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता ज़ोरों से शुरू हो गयी थी। अस्पृश्य बस्ती के बाहर रहते। उनकी छाया देह पर गिरने पर स्नान आवश्यक हो गया था। प्रातः काल किसी भी शूद्र का दर्शन पाप माना जाता।

दास-प्रथा

मेगास्थनीज़ को दास-प्रथा दिखायी ही नहीं दी। वस्तुतः वह खूब प्रचलित थी। दासों के साथ, मानवोचित व्यवहार होता। दास, पैसा चुकाकर मुक्त हो सकते थे; स्वामी के कार्य से छुट्टी होने पर, वे अपना खुद का धन्धा भी कर सकते थे।

मौर्य शासन की देन

मौर्यों ने अखिल भारतीय प्रशासन-यन्त्र तैयार किया। यह उनकी बहुत बड़ी देन थी। इससे राज-कर्मचारियों का प्रशिक्षित और अनुभवी वर्ग निकल आया। राज-कर्मचारियों को समय पर वेतन दिया जाता।

खेती-वाणिज्य

मौर्य राजाओं के राज-नियम कृषकों के अनुकूल थे। राजा सिंचाई की व्यवस्था के लिए, तालाबों, कुंओं और मकानों की मरम्मत के लिए, किसानों को, राजस्व कर में तीन से पांच वर्षों तक की छूट देता। मौर्य राजा शिल्पी-संघों को भी प्रोत्साहन देते। किन्तु, व्यापारी वर्गों के अवैध कार्यों की रोक-थाम करते। कारीगरों को अच्छी आय होने लगी थी। वैश्य वर्ग भी मालदार बन गया था। सामान्य जनता को यह अनुभव होने लगा था कि वह नये युग में प्रवेश कर रही है।

मौर्य युग में यह भावना कर ली गयी थी कि राजा या तो ईश्वर का प्रतिनिधि है या ईश्वर का अंश है। अशोक अपने को 'देवानाम् प्रिय' कहलाता ही था।

कला

इस युग में कला तथा शिल्प की विशेष उन्नति हुई। भवन-निर्माण, गुफा-मन्दिर-निर्माण, मूर्ति कला, स्तंभ-निर्माण, स्तूप-निर्माण ने खूब उन्नति की।

शैल-मालाओं को काट-काटकर गुफा-मन्दिर बनाये गये-इन गुफा-मन्दिरों में तपस्वी जन तपस्या करते। अशोक ने आजीवक संप्रदायवालों के लिए उड़ीसा के हाथीगुम्फा में इसी प्रकार एक गुफा-मन्दिर तैयार करवाया था। मौर्य स्तंभ चुनार के पत्थर के बने हुए हैं। ये पत्थर लगभग गुलाबी-मोतियां हैं। उन पर चिकनी दमकती पॉलिश मिलती है। पत्थर पर मोती-जैसी आब है। सारनाथ, प्रयाग, कोशांबी और संकिसा (सब उत्तर प्रदेश में हैं) में ये खंडित रूप में प्राप्त होते हैं। इन स्तंभों के शीर्ष स्थलों पर अनेक पशुओं की मूर्तियां हैं जो बहुत ही सुन्दर हैं।

सारनाथ तथा लौरिया नन्दनगढ़ में स्तंभ-शीर्ष पर सिंहाकृतियां हैं। परंतु, इलाहाबाद और रामपुरवा के स्तंभों पर बैलों की आकृतियां हैं। बताया जाता है कि अशोक ने भारत-भर में चौरासी हजार स्तूप बनवाये थे। संभवतः अब तक वे नष्ट हो गये और उनमें से कुछ ही बचे हैं-जिनमें सांची का स्तूप बहुत ही सुंदर है। अशोक की मृत्यु के सात सौ वर्ष बाद, चीनी यात्री फ़ाहियान ने इन स्तूपों में से कइयों को अपनी आंखों से देखा था। वह उनकी कला को देख स्तब्ध और मुग्ध हो उठा था। उसने कन्नौज, अयोध्या, मथुरा, प्रयाग, कौशांबी, श्रावस्ती, बनारस, वैशाली और गया तथा अन्य स्थानों के स्तूपों को

देखा था। उसने तक्षशिला में भी एक विशाल स्तूप के दर्शन किये थे। स्तूप गोलाकार होते हैं, वे दूर से गोल पहाड़ीनुमा दिखायी देते हैं। वे ईंट के बने होते हैं। ऊपर से मिट्टी का गहरा पलस्तर होता है। उसकी प्रदक्षिणा के लिए गोलाकार मार्ग भी होता है। स्तूप के भीतर, मध्य में, तथागत के अवशिष्ट चिह्न रखे जाते हैं।

मौर्य कला में ईरानी तथा यूनानी आदर्शों का प्रभाव है। साथ ही, वह केवल एक व्यक्ति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित हुई है। उसमें हमें सामाजिक प्रवृत्तियों अथवा समाज की इच्छाओं की झलक नहीं मिलती।

अशोक के राजस्व काल में बौद्ध धर्म का प्रसार और उत्कर्ष हुआ। किन्तु, साथ-ही-साथ, उनके विभिन्न संप्रदायों में दार्शनिक मतभेद उभरकर सामने आ गये। विद्वान लोग बौद्धों के मूल ग्रन्थ 'त्रिपिटक' का अध्ययन-मनन करते हुए, अनेक मतान्तरों को सामने ले आये। कुछ लोग भगवान बुद्ध की मूर्ति की उपासना करना चाहते थे-जिससे की साधारण-जन, हृदय के भक्ति-भाव को, बुद्ध के चरणों में समर्पित कर सकें, और उनके जीवन-उदाहरण को ध्यान में रखकर अपना जीवन पवित्र तथा सदाचारपूर्ण बना सकें। ये नये लोग महासंघिक कहलाये। पुराने स्थविर कहे जाते। स्थविर बुद्ध के मूल उपदेशों से आगे बढ़ना नहीं चाहते थे। फलतः दोनों के बीच खूब विवाद होता रहता।

ब्राह्मण धर्म

यद्यपि मौर्य युग में बौद्धों का उत्कर्ष हुआ, किंतु ब्राह्मण वृन्द भी प्रभावशाली था। वह राजनीति में भी दिलचस्पी लेने लगा था। बौद्ध साधु स्वयं राजनीति से दूर थे; किन्तु ब्राह्मण पंडितों का अनुराग समाज-संचालन तथा सामाजिक अनुशासन जैसे विषयों पर स्थिर हो गया। उन्होंने इस काल में धर्मशास्त्र का विकास किया।

धर्मशास्त्र

उत्तर-वैदिक काल के अन्त में, समाज का खूब विस्तार हो गया। इसलिए, उसके लिए नियम-उपनियम तैयार करना बहुत आवश्यक था, जिससे समाज के धर्म-कर्म और आचार-विचार ठीक ढंग से चल सकें। धर्मशास्त्र के तीन भाग हैं-गृह्य-सूत्र, श्रौत-सूत्र, और धर्म-सूत्र। गृह्य-सूत्र का संबंध पारिवारिक समारोहों तथा अनुष्ठानों से है; श्रौत-सूत्रों का संबंध वैदिक यज्ञों की धार्मिक विधियों से, और धर्म-सूत्र का संबंध समाज के कानून से है। धर्म-सूत्रों में सर्वाधिक प्रसिद्ध मनुस्मृति है। वह हिंदुओं का कानून है। मनु हिंदुओं का सबसे बड़ा धर्मशास्त्री था। बौधायन, (आपस्तम्ब), वशिष्ठ और गौतम उल्लेखनीय धर्मशास्त्री हैं।

सूत्र-ग्रंथ

सूत्र असल में सार-वाक्य हैं- जिनके अक्षर विशेष बातों के द्योतक होते हैं।

पाणिनि

इस काल में तक्षशिला में एक महापंडित पाणिनि का उदय हुआ। उसने 'अष्टाध्यायी' नामक संस्कृत भाषा का व्याकरण लिखा; उसके व्याकरण में भाषा-शास्त्र के विषयों का भी समावेश था। अष्टाध्यायी सूत्र-पद्धति पर लिखी गयी।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

श्रद्धांजलि

जनसंघर्षों के बिहान के हरकारा थे अपने धीरेंद्र

■ आदियोग

धीरेंद्र मानते थे कि उल्टे हालात की चीरफाड़, उसके कारकों की पहचान और संघर्ष के रास्तों की खोज केवल बौद्धिकों का काम नहीं। यह काम उनके साथ और उनकी अगुवाई में किया जाना चाहिये जो उल्टे हालात के सीधे निशाने पर हैं...

गुजरे अप्रैल की 24 तारीख बदशकुन निकली। उस दिन की भोर देखने से पहले धीरेंद्र प्रताप सिंह दुनिया छोड़ गये कि देखो अभी रात कितनी लंबी और अंधेरी है। वह सुबह की इंद्रधनुषी छटाओं का सपना देखते-दिखाते हमेशा के लिए सो गये कि मैंने तो अपना सफर तमाम किया, अब अगला सफर तुम्हारे हवाले। वह हमारे बीच नहीं हैं लेकिन गीत की तरह गुनगुना रहे हैं कि जंग अभी जारी है दोस्त लेकिन बहुत ढीली और अधूरी है, मिलजुल कर थोड़ा और ज़ोर लगाइये न।

कौन थे और कैसे थे धीरेंद्र जी? वह जितने मामूली से दिखने-जताने वाले आदमी थे, उतने ही गैर मामूली थे। गोया बेहतर इनसान गढ़ने का कारखाना

चलाते थे और यह काम उसी के बस का हो सकता है जो खुद अच्छा और सच्चा इनसान हो और जिसे किसी भी मोड़ या मोर्चे पर शीशे की तरह आर-पार देखा जा सकता हो। वे छात्र राजनीति से निकले, मजदूर-किसानों के बीच गये, एनजीओ की बदनाम हो चुकी बस्ती में उन अल्पसंख्यक मतलब कि प्रतिबद्ध और ईमानदार संगठनों को खोजने पहुंचे जैसे भीड़ में सुई जो लोगों के भले के लिए सचमुच कुछ करना चाहते हैं लेकिन जिनके सामने राह बहुत धुंधली है।

इसी कड़ी में वह पीस (नयी दिल्ली) से जुड़े और उसके ज़रिये उन्होंने कई राज्यों के चुनिंदा सामाजिक कार्यकर्ताओं को राजनीति का ककहरा सिखाने, उन्हें विकास का मतलब समझाने और उन्हें वंचितों के पक्ष में खड़ा करने का बड़ा काम किया। वह जन शिक्षण के बड़े उस्ताद थे, बहुत बारीकी और सहजता से उलझी गुत्थियों की परत-दर-परत बखिया उधेड़ने में माहिर थे, बेबाक थे और मुश्किल सवालियों के हाजिर जवाब थे। इधर कोई पांच सालों से देश भर में चल रहे जन आंदोलनों की विभिन्न धाराओं को एक डोर में बांधने का बहुत ज़रूरी और बेमिसाल करतब दिखाते हुए, यह बताते हुए कि मकसद और नज़रिया अगर साफ है और सधी रणनीति है तो कोई काम नामुमकिन नहीं- कुल 53 साल की उम्र में वह हमसे विदा हो गये।

अभी 16 अप्रैल को हम मिले थे। उस दिन लखनऊ में बिहान की बैठक थी। बैठक की तारीख धीरेंद्र जी की सहूलियत के मुताबिक तय हुई थी। ऐसा बहुत कम होता था कि धीरेंद्र जी लखनऊ आयें और हमारे घर न आयें। जैसा कि पहले से तय था, सुबह वह घर पहुंचे,



धीरेंद्र प्रताप सिंह

बीमार चल रही अलका जी (मेरी संस्कृतिकर्मी पत्नी अलका प्रभाकर और नारी मुक्ति संगठन की संयोजिका) का हालचाल लिया, बाइस साल की हो रही चैती बिटिया से हंसी-मजाक किया, एकाध राउंड चाय पी, कई सिगरेट फूँकीं और बैठक के लिए निकल पड़े। मोटरसाइकिल पर उनका ड्राइवर मैं था।

धीरेंद्र जी बहुत कुछ साधना जानते थे - जीवन, रिश्ते, विचार, कलम, चिट्ठी-पत्र, सपने, संघर्ष... मोटरसाइकिल तक को। मोटरसाइकिल के गेट से बाहर आते ही वह उसका हैंडिल खुद थाम लिया करते थे। मजे से किक मारते और पूछते कि चलें। मेरी हां हुई नहीं कि पीठ झुका कर एक्सीलरेटर लेते, गेयर बदलने का पता ही नहीं चलता, खुली सड़क मिलती

तो फरटा भरते।

उनके हाथ में मोटरसाइकिल चलती नहीं, पानी की तरह बहती थी। तब अक्सर उनकी यह खीजभरी झिड़क सुनने को मिलती-मोटरसाइकिल का भी ध्यान रखा कीजिए, पहियों में हवा कम है, ब्रेक बहुत ढीली है, फिश प्लेट कुछ गड़बड़ है... उस दिन भी उन्हें लंबी दूरी पर जाना जाता था लेकिन उन्होंने मोटरसाइकिल को अपने कब्जे में नहीं लिया। यह किसी अनहोनी की आहट थी लेकिन मैं इसका अंदाज़ा नहीं लगा सका।

शाम को वह बनारस के बरहा नवादा में मुसहरों के बीच सक्रिय लालबहादुर के साथ घर पहुंचे। कोई डेढ़ घंटे साथ रहे। गेट पर पहुंच कर उन्होंने अपनी जेब टटोली। सिगरेट की पैकड डिब्बी और माचिस बाहर निकली। उन्होंने सिगरेट सुलगायी, लंबा कश लिया और धुंआ उगलते हुए बोले - मेरी डिब्बी पर कब्ज़ा जमा लिया ताऊ... मैंने तपाक से नहले पे देहला मारा - आप ही धौंक गये होंगे या कहीं भूल आये होंगे और इल्जाम मुझ पर? वह हंसे और हाथ हिला कर चल पड़े। थोड़ी देर बाद देखा कि आधी खाली डिब्बी वह उठाना भूल गये हैं। यह हमारी आखिरी मुलाकात थी। काश कि यह भूल वह अभी सालों साल आगे भी करते रहते और प्रसाद की तरह उनकी आधी भरी डिब्बी मेरे हिस्से में आती रहती! लेकिन नियति को यह मंजूर नहीं था।

चैती से उनकी खूब छनती थी। उसके साथ टीवी देखते, क्रिकेट पर बातें करते, लूडो खेलते और उसमें बेइमानी भी करते। चैती हंसते हुए कहती - बहुत चीटिंग करते हैं अंकल आप भी... जब-तब चिरौरी

करते - अब चाय भी हो जाये अम्माजी। चैती ने कोई छह साल से घर के अंदर सिगरेट पीने पर पाबंदी लगा रखी है। इस पाबंदी से केवल धीरेन्द्र जी को छूट मिली। लेकिन चैती ने जब से सुना कि धीरेन्द्र जी को डॉक्टर ने सिगरेट पीने से मना कर दिया है, वह उन पर निगाह रखती और हुकुम चलाती - कोई सिगरेट नहीं, सीधे खाना खाइये... मैं कुछ नहीं सुनना चाहती। और अच्छे बच्चे की तरह धीरेन्द्र जी उसका कहा मान भी लिया करते।

घर में हम चार प्राणी हैं। चौथे रेंचो साहब हैं। गेट पर किसी की आहट हुई कि भौंकने लगते हैं। लेकिन जिससे बहुत हिले हुए हैं, उसके आने पर रोते हुए भौंकते हैं कि जल्दी से दरवाजा खोलो। यह उनके प्रेम और आतुरता का चरम होता है। ऐसे लोग बहुत कम हैं। धीरेन्द्र जी भी उन्हीं बिरले लोगों में से थे। विज्ञान बताता है कि कुत्ते आदमी से दो सौ गुना संवेदनशील होते हैं। तो हर बार रेंचो इसी तरह जैसे मोहर लगाते थे कि धीरेन्द्र जी तो परखे हुए इनसान हैं, जैसे पूछ रहे हों कि इतने दिनों बाद क्यों आये जी। धीरेन्द्र जी कहते - बहुत हो गयी गुंडई...

डॉ. सारिका और संजय माथुर पति-पत्नी हैं। माथुर साहब डाक्यूमेंट्री फिल्में बनाते हैं जबकि डॉ. सारिका शिक्षा के क्षेत्र से जुड़ी हुई हैं, लखनऊ के एक डिग्री कॉलेज की प्राचार्य रही हैं और इलाहाबादी हैं। कोई दो साल पहले की बात है। माथुर साहब के घर किसी संदर्भ में धीरेन्द्र जी का जिक्र छिड़ा। नाम सुनते ही डॉ. सारिका ने पूछा - क्या आप इलाहाबाद के धीरेन्द्र जी के बारे में बात कर रहे हैं। मेरे हां कहते ही चहकने लगीं - कमाल के आदमी हैं, आजकल कहां हैं, क्या कर रहे हैं, आप उन्हें कैसे जानते हैं... कभी लखनऊ आये तो बतायें, मैं मिलना चाहूंगी। तब हम नये-नये विश्वविद्यालय पहुंचे थे।

भाईसाहब हमसे बहुत सीनियर थे। बहुत नाम था उनका। सब इज्जत करते थे। छात्र संघ चुनाव का समय था। हम कुछ दोस्त उनसे मिले और हमने प्रचार में हाथ बंटाने की इच्छा जाहिर की। भाईसाहब का सीधा सा जवाब था - अगर आप पढ़ाई से जी नहीं चुराते तो आपका स्वागत है। इस जवाब ने हमें उनका प्रशंसक बना दिया। हमने उनसे बहुत कुछ सीखा - सादगी से रहना, समाज के बारे में सोचना और सबको अपना बना कर रखना। पता नहीं, अब उन्हें मेरी याद हो या ना हो लेकिन भाईसाहब जब लखनऊ आये तो कहियेगा कि उनकी प्रशंसिका ने उन्हें घर आने का न्यौता भेजा है।

इसके कुछ ही दिनों बाद तीन दिन की किसी कार्यशाला के सिलसिले में धीरेन्द्र जी का लखनऊ आना हुआ। मैंने उन्हें डॉ. सारिका का संदेशा दिया। छूटते ही बोले तो आज ही शाम को चलते हैं। उस दिन धीरेन्द्र जी को सामने देख डॉ. सारिका इतना निहाल थीं गोया कोई बहुत बड़ी उपलब्धि उनके हाथ लग गयी हो। इतने बड़े आदमी थे अपने धीरेन्द्र जी।

देहरादून में हुई पीस की सिलसिलेवार मूल्यांकन कार्यशाला के बाद गुजरी तीन अप्रैल से जन संघर्ष समन्वय समिति की दो दिन की बैठक भी थी। बैठक के दौरान किसी संदर्भ में छिड़ी बहस के बीच धीरेन्द्र जी ने साथियों से पूछा था कि जिस तरह हम चिदंबरम और मनमोहन सिंह की आलोचना करते हैं, क्या उसी तरह मेधा पाटेकर और कविता श्रीवास्तव जैसे लोगों की भी आलोचना कर सकते हैं, इन दो तरह के लोगों के बारे में क्या एक जैसी शब्दावली इस्तेमाल की जानी चाहिए... या कि आलोचना करते समय हमें दुश्मन और दोस्त का पूरा

खयाल रखना चाहिए। आपसी मतभेद का यह मतलब नहीं कि हम बिरादराना रिश्ता भूल जायें।

उनकी चिंता थी कि सत्ता दिनोंदिन निरंकुश और निर्मम होती जा रही है, बहुसंख्यक आबादी के सामने जीने का संकट गहराता जा रहा है लेकिन आंदोलनकारियों के बीच आपसी घमासान भी कम नहीं है। वह अपने अहम, इलाकेदारी, झंडे, बैनर से बाहर नहीं आ पाते। साझा संघर्षों से दूर भागते हैं या उसमें अपना वर्चस्व स्थापित किये जाने की कोशिशों में रहते हैं। अपने ही संगठन या आंदोलन में आंतरिक लोकतंत्र को तरजीह नहीं देते, नेतृत्व की दूसरी कतार को पनपने का मौका नहीं देते।

जब भी और जहां भी मौका मिलता, धीरेन्द्र जी याद दिलाना नहीं भूलते कि मौजूदा दौर साझा संघर्षों की मांग करता है, कि दमनकारी और अमानवीय हालात को चुनौती दिये जाने का यही इकलौता रास्ता है। न्यूनतम सहमति के बिंदु तय कीजिये और उसमें अधिकतम योगदान दिये जीने को तैयार रहिये। सामूहिक निर्णय हों और सामूहिक जिम्मेदारी हो लेकिन जवाबदेही व्यक्तिगत हो। विचारधारा पर बहस करते रहिये लेकिन साझा दुश्मन के खिलाफ साथ रहिये। व्यक्ति, समाज और संगठन के लिए संघर्ष सबसे बड़ी पाठशाला होती है।

बिहान उत्तर प्रदेश के आठ जिलों में सक्रिय सामाजिक संस्थाओं, जन संगठनों और व्यक्तियों का साझा मंच है और जिसके फोकस में सबसे पहले अति वंचित समुदाय हैं। इसका गठन धीरेन्द्र जी की अथक कोशिशों का नतीजा था। वह मानते थे कि उल्टे हालात की चीरफाड़, उसके कारकों की पहचान और संघर्ष के रास्तों की खोज केवल बौद्धिकों का काम नहीं है कि यह काम उनके साथ और उनकी अगुवाई में किया जाना चाहिये जो उल्टे हालात के सीधे निशाने पर हैं कि लोग अनपढ़ या कम जानकार हो सकते हैं लेकिन बेदिमाग नहीं। बिहान के गठन की ज़मीन इसी समझ से गुजर कर तैयार हुई थी।

इसका हवाला 2007 के आखिर में तैयार हुए बिहान के पहले पुस्तिकाकार दस्तावेज के पहले पन्ने में दर्ज है। धीरेन्द्र जी नहीं चाहते थे कि इसमें उनके नाम का जिक्र हो लेकिन उसके लेखक के बतौर मेरी दलील थी कि यह कोई महिमा मंडन नहीं, सच का बयान भर है और जिसे दूसरों को भी जानना चाहिये कि यह तो उन सभी साथियों के लिए प्रेरक प्रसंग है जो हाशिये से बाहर खड़े लोगों को ताकतवर बनाना चाहते हैं ताकि मुसीबत के मारे अपने भले का रास्ता खुद तय कर सकें। मेरे दूसरे साथी इस दलील में मेरे साथ थे तो धीरेन्द्र जी की दादागिरी कैसे चलती। आखिरकार सामूहिक निर्णय का सम्मान करना उन्होंने ही सिखाया था। बहरहाल, शुरुआत शीर्षक उस एक पन्ने के मजबूत पर गौर करें जिसके किनारे की चौड़ी पट्टी एक पेंटिंग है और जिसमें बादलों के बीच उड़ती हुई रंग-बिरंगी पतंग है।

‘दुनिया के स्तर पर हो रहे तेज बदलावों के बरअक्स जीने के अधिकार पर लगातार बढ़ते संकट की चिंता तीन जनों को करीब ले आयी और उनके बीच बातचीत का लंबा सिलसिला शुरू हो गया। यह माजरा उभरा कि सरकारी नीतियां, कार्यक्रम और प्रक्रियाएं दरिद्रीकरण का दुश्चक्र रच रही हैं। कि गैर सरकारी क्षेत्र का बड़ा हिस्सा सरकारी धुन पर कदमताल कर रहा है, गरीब-गुरबों को भरमा रहा है। कि संस्था, नेटवर्क और गठबंधन के नाम पर फंडातुर कांव-कांव का शोर है, देशी-विदेशी अनुदानदाताओं की कठपुतली बन जाने की प्रतिस्पर्धा है।

कि लगता है जैसे विकास का शब्द अपने विराट अर्थ से बाहर आ गया है, इकहरा और संकुचित हो गया है।

ऐसे में उन सामाजिक संस्थाओं, जन संगठनों और व्यक्तियों को एक मंच पर लाने और उन्हें साझा पहल में उतारने की कोशिश होनी चाहिए जो विकास की तथाकथित मुख्यधारा से सहमत नहीं हैं- खगोलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के विरोधी हैं, लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता के हिमायती हैं, साझी विरासत और साझी शहादत की परंपरा पर गर्व करते हैं।

इसी समझ ने बिहान के गठन की राह खोली। यह जिक्र भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि तीनों किसी संस्था या संगठन के अगुवा नहीं हैं- नब्बन खां और शाहजहां बेगम अनपढ़ मजदूर हैं जबकि धीरेन्द्र प्रताप सिंह सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ता। (आज बस शाहजहां आपा हमारे बीच हैं)

कोई तीन साल तक धीरेन्द्र जी का ज्यादातर समय कौशांबी के करारी इलाके में गुजरा था। दोनों से उनका परिचय उसी दौरान हुआ और जो देखते-देखते दोस्ती में बदल गया। वह दोनों के परिवारों से बहुत घुले-मिले थे और आखिरी समय तक उनके सुख-दुख के साथी रहे। बिहान के गठन को लेकर आयोजित पहली बैठक में धीरेन्द्र जी ने उन दोनों से हमारा परिचय बहुत प्रेम और सम्मान के साथ कराया था।

शाहजहां अपनी घरेलू परेशानियों और बीमारी के कारण बाहर बहुत कम निकल पाती थीं लेकिन बिहान की हर बैठक और कार्यक्रम में नब्बन भाई हमेशा हाजिर रहते थे हालांकि वह भी अक्सर बीमार रहते थे। ढलती उम्र में मुफलिसी सबसे बड़ी बीमारी होती है। धीरेन्द्र जी इसे खूब समझते थे और किसी न किसी बहाने जब-तब चुपके से उनकी मदद किया करते थे। किसी दिन उन्होंने मुझसे कहा था- नब्बन भाई को अपने कैमरे में कैद कीजिए, मुझे उनकी कुछ बढ़िया तसवीरें चाहिए।

2007 बिहान के लिए उथल-पुथल भरा रहा। बिहान से कुछ साथी निकाले भी गये। इसमें इलाहाबाद निवासी एक दंपति (यहां उनका नाम देना उनके प्रति धीरेन्द्र जी के अथाह प्रेम का अपमान करना होगा) भी थे और उनके विश्वविद्यालय के दिनों के सहपाठी राधाकांत त्रिपाठी भी। दंपति को वह अपने बच्चों की तरह मानते थे और उनके आर्थिक संकटों में हाथ खोल कर उपस्थित रहते थे।

खास कर इन तीनों को बिहान से अलग किये जाने का फैसला धीरेन्द्र जी के लिए बहुत कष्टकारी था लेकिन उनका कहना था कि बड़े मकसद में व्यक्तिगत संबंधों को आड़े नहीं आने दिया जाना चाहिए। हालांकि कार्यकारिणी के इस फैसले में धीरेन्द्र जी खुद शामिल नहीं थे लेकिन भरी बैठक में उन्हें अपनी गैर मौजूदगी में दंपति की गालियां मिलीं। तो भी बैठक के बाद वह सीधे दंपति के घर पहुंचे और अपमानित किये गये। लेकिन चूंकि उनका दंपति के दो छोटे बच्चों से बहुत लगाव था, किसी न किसी बहाने उनका दंपति के घर पहुंचना और अपमानित होना कोई एक साल तक जारी रहा। लेकिन संबंधों का पुल दोबारा नहीं जुड़ सका।

फतेहपुर के निवासी राधाकांत भाई शायद धीरेन्द्र जी को खूब समझते थे। सो, दोनों का याराना बरकरार रहा। पिछले कुछ महीनों से वह राधाकांत को दोबारा बिहान में लाये जाने की पैरवी कर रहे थे- ठीक है कि कुछ गड़बड़ियां कीं लेकिन वह हमारे कोई दुश्मन भी नहीं।

हमें भरोसा रखना चाहिए कि समय के साथ अगर हर चीज बदलती है तो आदमी भी बदलता है। धीरेन्द्र जी की मौत के बाद राधाकांत भाई का फोन आया - सब कुछ खाली हो गया, बहुत बड़ा नुकसान हुआ... और रोने लगे।

धीरेन्द्र जी के जीवन में वह इलाहाबादी युगल अपवाद स्वरूप हैं जो बेहद करीब आकर उनसे बहुत दूर हो गये। वरना तो जो धीरेन्द्र जी से टकराता, उनका हो जाया करता था। बिहान के समन्वयक रविंदर भाई ने संगम में धीरेन्द्र जी की अस्थियों को प्रवाहित किये जाने के बाद कहा था - मैं दोबारा अनाथ हो गया कामरेड, पिता की मौत के बाद वही मेरे पिता थे, वही मेरे शिक्षक भी थे और दोस्त भी। उनके मुरीदों की यह सूची बहुत लंबी है... कितनों का जिक्र करूं।

लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ते हुए मैंने तारीफों के साथ धीरेन्द्र जी का नाम सुना था। उन पत्रकार साथियों से भी उनके बड़प्पन, जुझारूपन और पढ़ाकूपन के किस्से सुने जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र रहे हैं। रू-ब-रू मुलाकात कब हुई, याद नहीं पड़ता। लेकिन पहली मुलाकात करारी में सामाजिक कार्य से जुड़े परवेज़ रिज़वी ने करायी थी।

मुझसे यह कहते हुए कि आइये, एक हीरा आदमी से आपकी मुलाकात कराऊं। लगा ही नहीं कि उस दड़ियल आदमी से पहली बार मिल रहा हूं। उस दिन से हम सिगरेटिया साथी भी हो गये। लेकिन मैं धुंआ उगलने में उन्हें पछाड़ नहीं सका। कोई चार साल पहले उनकी तबीयत कुछ ज्यादा बिगड़ी थी और तब डॉक्टरों ने उन्हें सिगरेट से दूर रहने की सलाह दी थी। धूम्रपान थोड़ा रुका, कुछेक महीने बंद भी रहा लेकिन पुरानी आदत ने पीछा नहीं छोड़ा।

धीरेन्द्र जी ने कोई तीन साल तक अपना आधा समय करारी इलाके में गुजारा और परवेज़ भाई की संस्था में सामाजिक कार्यकर्ताओं को दृष्टि और दिशा से जोड़ने का काम किया। दोस्ती निभाने के नाम पर एनजीओ की दुनिया में यह उनका पहला कदम था। इसके बाद वह वायस ऑफ पीपुल (वीओपी) के महासचिव चुने गये। उनके पहले तक वीओपी मूलतः क्राई से जुड़े एनजीओज का मंच हुआ करता था।

उत्साह से भरे धीरेन्द्र जी ने मंच को वैज्ञानिक विचार, ठोस मकसद और कारगर रणनीति से लैस करने की कोशिश की लेकिन निजी और टुच्ची महत्वाकांक्षाओं ने उनका रास्ता भी रोकना शुरू कर दिया। नतीजा यह निकला कि अभी साल भर भी नहीं गुजरे कि धीरेन्द्र जी इस्तीफा देकर अलग हो गये। इस्तीफे की शक्त में उनकी लंबी चिट्ठी मुकम्मल दस्तावेज थी कि सामाजिक कार्य नाम की दूकानदारी जनपक्षधरता को किस तरह ठोकर मारती है और अलोकतांत्रिक प्रवृत्तियों को पनाह देती है। उनके पीछे मैंने भी पांच पेजी इस्तीफा सौंपा और वीओपी से किनारा कर लिया। जहां धीरेन्द्र जी न रह सकें, वहां आदियोग कैसे बना रह सकता था।

बहरहाल, धीरेन्द्र जी के वीओपी छोड़ते ही परवेज़ भाई ने उनसे दूरी बरत ली और विरोधियों की जमात में जा बैठे। यह फंडिंग के समीकरणों की मजबूरी थी कि हीरा देखते-देखते कोयले में बदल गया, कि उसकी गली से गुजरोगे तो कालिख लेकर लौटोगे। लेकिन धीरेन्द्र जी करारी और इलाहाबाद के अपने संपर्कों से परवेज़ भाई का हालचाल लेते रहते। अक्सर मुझसे भी पूछते - करारी के नवाब साहब कैसे हैं, थोड़ा बिगड़ैल है लेकिन नेक आदमी है, फोन तो लगाइये जरा। और तब स्पीकर आन होता। धीरेन्द्र जी हम दोनों की बातें गौर से सुनते और

मुस्कराते रहते। कभी पूछे जाने वाले सवाल भी लिख कर मुझे देते। ऐसा कई बार हुआ जब परवेज़ भाई ने अचानक कहा - क्या सामने धिरेंदरवा बैठा है। जाहिर है कि मेरा जवाब हमेशा साफ झूठ होता।

धीरेंद्र जी रिश्ता बनाने और उसकी मिठास बनाये रखने के धुनी थे। कोई चार साल पहले परवेज़ भाई पर बड़ी आफत आयी जब करारी में आगजनी की घटना हुई। हुआ यह था कि पहले एक स्थानीय गुंडे ने उनके कार्यकर्ता की दिन-दहाड़े हत्या कर दी। इससे भड़क कर बस्ती वालों ने उस गुंडे के घर को घेर लिया और उसमें आग लगा दी। समय रहते आग बुझा ली गयी और बड़ा हादसा होते-होते बचा लेकिन आगजनी के लिए उकसाने वालों में परवेज़ भाई का नाम आ गया। इंटरनेटी आंदोलनकारी उनके पक्ष में अपील जारी कर चुप बैठ गये। सामने आये धीरेंद्र जी। उन्होंने अपने वकील दोस्तों को खटखटायी, खूब दौड़धूप की। उन दिनों परवेज़ भाई गिरफ्तारी से बचने के लिए भूमिगत थे और धीरेंद्र जी फौरी राहत के तौर पर दस हजार रुपयों की गड्डी के साथ थे। यह देने और न लेने की ज़िद का भावुक सीन था। आखिरकार परवेज़ भाई ने धीरेंद्र जी की पैंट की जेब में गड्डी ठूसते हुए कहा - अमां काहे बवाल करते हो। उस दिन झूंसी स्थित पंत इस्टीट्यूट के आहाते में परवेज़ भाई की आंखें नम थीं। मुझसे बोले - खरा सोना है अपना धिरेंदरवा। अब जाकर परवेज़ भाई ने अपने कहे को दुरुस्त किया था- आखिर आग में हीरा भस्म हो जाता है लेकिन सोना तो और चमक जाता है। बहरहाल, उसके बाद दोनों के रिश्ते पहले से कहीं ज्यादा मजबूत हो गये।

शुरुआती दौर में बिहान की बैठकों के लिए कोई निश्चित जगह नहीं थी। पहला कार्यालय स्टेशन के पास नुरुल्ला रोड पर खुला था। खासी बड़ी वह जगह बहुत कम किराये में मिली। इसलिए कि यह धीरेंद्र जी के चाहने वाले राशिद अल्वी का मकान था। सहूलियत यह भी कि गर्मी के दिनों में घंटी बजाओ और दूसरी मंजिल पर रह रहे राशिद साहब के घर से पानी की ठंडी बोतलें हाजिर। बस मोहर्म्म को छोड़ कर हल्ला-गुल्ला मचाने पर कोई पाबंदी नहीं। पूरा घर ही धीरेंद्र जी का मुरीद जो था। यह धीरेंद्र जी के गजब के व्यक्तित्व का नमूना था कि सर्दियों में साथियों के ओढ़ने-बिछाने का भी बढ़िया बंदोबस्त हो गया। पास में ही कोई टेंटवाला है और वह भी धीरेंद्र जी का चाहने वाला निकला। उसने तीस-चालीस रजाई-गद्दे-तकिया-चादर कार्यालय के एक कमरे में जमा कर दिये - अरे, यहीं पड़े रहेंगे, समझिये गोदाम में हैं, आराम से इस्तेमाल कीजिये, माल की कमी पड़ेगी तो उठवा लिया करूंगा कामरेड। खैर, कोई साल भर बाद बिहान कार्यालय झूंसी पहुंच गया।

धीरेंद्र जी ने बिहान को तिनका-तिनका जोड़ कर खड़ा किया था। बैठकों और कार्यक्रमों की व्यवस्था के लिए अपने संबंधों को और अपनी जमा पूंजी को भी खूब निचोड़ा था। लेकिन कभी उसकी लगाम थामने की कोशिश नहीं की। वह मंच पर लगभग नहीं रहे, परदे के पीछे का सबसे ज़रूरी कामकाज संभालते रहे - साथियों की राय जानना, उनकी समस्याओं को समझना, उनके दुख-तकलीफों से

जुड़ना, उससे निपटने की तजवीज सुझाना, उनका हौसला बढ़ाना, उनकी खासियतों की सार्वजनिक तारीफ करना, किसी कोने में ले जाकर उनकी कमजोरियों पर हाथ रखना... सबको अपनी भूमिकाओं को याद दिलाते रहना।

धीरेंद्र जी ने एक बार अफसोस जाहिर करते हुए कहा था - हम केवल अपने काम तक, अपने साथियों तक सिमटे रहते हैं, अपने साथी के परिवार से रिश्ता नहीं बनाते। यह आंदोलन के हित में ठीक नहीं। इसी कड़ी में उन्हीं के प्रस्ताव पर देवां (बाराबंकी) में बिहान के साथी तीन दिन एक साथ रहे थे। बिना एजेंडे के - खाओ, पियो, घूमो और जी भर कर बतियाओ। अगली बार परिवार के सदस्यों के साथ यही आयोजन करने की योजना बनी थी जो पूरी नहीं हो सकी।

जो धीरेंद्र जी ने चाहा, उसमें बहुत कुछ नहीं हो सका या अधूरा रह गया। आर्थिक तंगी के चलते बिहान का दस्तावेज प्रकाशित नहीं हो सका और साथियों के बीच उसकी फोटोकॉपी ही बंटी। इधर धीरेंद्र जी का आग्रह था कि उसमें ताजा संदर्भों और बिहान की अब तक की गतिविधियों को जोड़ कर उसे नया बनाया जाये, कहा था कि छपाई के खर्च का जुगाड़ किया जायेगा। उनके जीते जी मैं उनका यह आग्रह पूरा नहीं कर सका। अब नहीं किया तो जिंदगी भर खुद को माफ नहीं कर सकूंगा। हालांकि यह बहुत मुश्किल काम होगा।

पिछला दस्तावेज धीरेंद्र जी के साथ हुई चर्चाओं से निकला था और अब बिहान में उन जैसा काबिल कोई नहीं। लेकिन कुम्हला रहे बिहान को सींचना तो अब हमारा काम है जिसे धीरेंद्र जी ने बहुत त्याग-तपस्या से रोपा था और आखिरी दम तक उसकी सिंचाई की थी। जन संघर्ष समन्वय समिति (जेएसएसएस) उड़ीसा, झारखंड, पश्चिम बंगाल, बिहार, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश आदि राज्यों में मुख्यतः जमीन अधिग्रहण के खिलाफ जारी जन संघर्ष का साझा मंच है जिसके गठन के लिए उन्होंने पैरों में जैसे फिरकी बांध ली थी, थकान जैसे अहसास को डपट कर चुप करा दिया था। यों वह किसी भी किस्म की ज्यादाती के खिलाफ थे लेकिन उनकी असमय मौत खुद से की गयी ज्यादाती का नतीजा ज्यादा थी।

धीरेंद्र जी अक्सर मुझसे यह गीत सुनाने की फरमाइश करते थे- हम जियें या न जियें

जो लोग कल को आयेंगे

उन्हें क्या दे के जायेंगे।

ये बात दिल में है अगर

ऐ दोस्त, कुछ भी कर गुजर

कुछ भी कर गुजर...

बिहान के और जन संघर्ष समन्वय समिति से जुड़े साथियों को भी इस जज्बे को और वजनी बनाना होगा। धीरेंद्र जी को हमेशा याद करते रहने का यही मुनासिब तरीका है। इसके लिए धीरेंद्र जी बनना होगा और इसका मतलब हुआ - विचार और आचरण के तराजू में सबसे पहले खुद को तौलते रहने का साहस पैदा करना। दुआ करें कि हमारे बीच कई धीरेंद्र प्रताप सिंह पैदा हों।

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / notowar@rediffmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए